www.vitragvani.com

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

मानव जीवन का महान कर्तव्य

सम्यग्दर्शन

(भाग-3)

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों में से सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विभिन्न लेखों का संग्रह

गुजराती संकलन :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, जिला भीलवाड़ा (राज०)

प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस.लि., वी.एल. मेहता मार्ग,
विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056; फोन : (022) 26130820

सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)-364250; फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि :

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां,
   निर्मला कोन्वेन्ट रोड, राजकोट-360007
   फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

www.vitragvani.com

प्रकाशकीय

यह एक निर्विवाद सत्य है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है एवं निरन्तर उसी के लिए यत्नशील भी है; तथापि यह भी सत्य है कि अनादि से आज तक के पराश्रित प्रयत्नों में जीव को सुख की उपलब्धि नहीं हुई है।

धार्मिक क्षेत्र में आकर इस जीव ने धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक प्रकार के क्रियाकाण्ड-व्रत, तप, नियम, संयम इत्यादि अङ्गीकार करके भी सुख को प्राप्त नहीं किया है। यही कारण है कि वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा की सातिशय वाणी एवं तत्मार्गानुसारी वीतरागी सन्तों की असीम अनुकम्पा से सुखी होने के उपाय के रूप में पर्याप्त दशानिर्देश हुआ है।

वीतरागी परमात्मा ने कहा कि मिथ्यात्व ही एकमात्र दु:ख का मूल कारण है और सम्यग्दर्शन ही दु:ख निवृत्ति का मूल है। मिथ्यात्व अर्थात् प्राप्त शरीर एवं पराश्रित विकारी वृत्तियों में अपनत्व का अभिप्राय /इसके विपरीत, सम्यग्दर्शन अर्थात् निज शुद्ध-ध्रुव चैतन्यसत्ता की स्वानुभवयुक्त प्रतीति।

इस वर्तमान विषमकाल में यह सुख-प्राप्ति का मूलमार्ग प्राय: विलुप्त -सा हो गया था, किन्तु भव्य जीवों के महान भाग्योदय से, वीतरागी प्रभु के लघुनन्दन एवं वीतरागी सन्तों के **परम उपासक अध्यात्ममूर्ति पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** का इस भारत की वसुधा पर अवतरण हुआ। आपश्री की सातिशय दिव्यवाणी ने भव्य जीवों को झकझोर दिया एवं क्रियाकाण्ड की काली कारा में कैद इस विशुद्ध आध्यात्मिक दर्शन का एक बार पुनरोद्धार किया।

www.vitragvani.com

आपश्री की सातिशय अध्यात्मवाणी के पावन प्रवाह को झेलकर उसे रिकार्डिंग किया गया जो आज सी.डी., डी.वी.डी. के रूप में उपलब्ध है। साथ ही आपश्री के प्रवचनों के पुस्तकाकार प्रकाशन भी लाखों की संख्या में उपलब्ध है, जो शाश्वत् सुख का दिग्दर्शन कराने में उत्कृष्ट निमित्तभूत है। इस उपकार हेतु पूज्यश्री के चरणों में कोटिश नमन करते हैं।

इस अवसर पर मुमुक्षु समाज के विशिष्ट उपकारी **प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन** के प्रति अपने अहो भाव व्यक्त करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राज.) द्वारा किया गया है।

जिन भगवन्तों एवं वीतरागी सन्तों के हार्द को स्पष्ट करनेवाले आपके प्रवचन ग्रन्थों की शृंखला में ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़ द्वारा संकलित प्रस्तुत '**मानव-जीवन का महान कर्तव्य-सम्यग्दर्शन भाग-3**' प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

सभी आत्मार्थी इस ग्रन्थ के द्वारा निज हित साधें — यही भावना है।

निवेदक

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

www.vitragvani.com

निवेदन

स...म्य...ग्द...र्श...न! कैसा आह्लादकारी है! अपने जीवन का यह महान कर्तव्य है... इसका नाम सुनते ही आत्मार्थी को भक्ति से रोमांच उल्लसित हो जाता है। सत्य ही है-अपनी प्रिय में प्रिय वस्तु देखकर किसे हर्ष नहीं होगा! हजारों शास्त्रों में हजारों श्लोकों द्वारा जिसकी अचिन्त्य महिमा का वर्णन किया है-ऐसे सम्यग्दर्शन की क्या बात! - ऐसा सम्यग्दर्शन साक्षात् देखने को मिले तो कैसी आनन्द की बात! इस काल में गुरुदेव के प्रताप से ऐसा सम्यग्दर्शन साक्षात् देखने को मिलता है क्योंकि भावनिक्षेप से सम्यक्परिणत जीव वे स्वयं ही सम्यग्दर्शन हैं। इसलिए ऐसे समकिती जीव वे स्वयं ही सम्यग्दर्शन हैं। इसलिए ऐसे समकिती जीवों का दर्शन वह साक्षात् सम्यग्दर्शन का ही दर्शन है उनकी उपासना वह सम्यग्दर्शन की ही उपासना है, उनका विनय-बहुमान-भक्ति वह सम्यक्त्व का ही विनय-बहुमान-भक्ति है। अपने सौभाग्य से अपने को अभी सम्यक्त्व के आराधक जीवों की सत्संगति का और उनकी उपासना का सुअवसर प्राप्त हुआ है। पूज्य गुरुदेव, भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझा रहे हैं। आपश्री की मंगलकारी चरणछाया में रहकर सम्यग्दर्शन की परम महिमा का श्रवण और उसकी प्राप्ति के उपाय का श्रवण-मन्थन करना वह मानव जीवन की कृतार्थता है। गुरुदेव अपने कल्याणकारी उपदेश द्वारा सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप समझा रहे हैं, उसी के एक अल्प अंश का इस पुस्तक में संग्रह किया है।

संसार में मनुष्यपना दुर्लभ है परन्तु सम्यग्दर्शन तो उससे भी अनन्त दुर्लभ है। मनुष्यपना प्राप्त करके भी सम्यक्त्वहीन जीव वापस संसार में ही भटकता है... परन्तु सम्यग्दर्शन तो ऐसी चीज है कि एक क्षण भी

उसकी प्राप्ति करनेवाला जीव अवश्य मोक्ष पाता है। इसलिए ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रयत्न करना वही इस दुर्लभ मानव जीवन का महा कर्तव्य है... और उसके लिये ज्ञानी-धर्मात्माओं का सीधा सत्समागम सबसे बड़ा साधन है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करके इस असार संसार के जन्म-मरण से छूटना हो और फिर से नौ महीने तक नयी माता के गर्भ में न आना हो उसे सत्समागम के सेवन पूर्वक आत्मरस से सम्यग्दर्शन का अभ्यास करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन की दो पुस्तकों के पश्चात् यह तीसरी पुस्तक जिज्ञासु साधर्मियों के हाथ में देते हुए आनन्द होता है। मानव जीवन में सम्यग्दर्शन कितना आवश्यक कर्तव्य है यह समझ में आये और सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करने की प्रेरणा जागृत हो यही इस पुस्तक का उद्देश्य है। इसी हेतु से पूज्य गुरुदेव के प्रवचन, चर्चा तथा शास्त्रों में से दोहन करके सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विविध लेखों का इसमें सङ्कलन किया गया है।

श्रुत पञ्चमी — **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन**

संवत् २४९०, सोनगढ़

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका

व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन–उद्धार का और

हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय**

मन्दिर' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ।

स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य

www.vitragvani.com

से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980)

वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार

www.vitragvani.com

से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

❖ एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। ❖ प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। ❖ उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं। ❖ उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है। ❖ पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं। ❖ भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती। ❖ भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। ❖ चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। ❖ स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है। ❖ ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

www.vitragvani.com

अनुक्रमणिका

लेख	पृष्ठ
आत्मार्थी सम्बोधन आत्मार्थ के लिये सच्ची तत्परता.....	१
ज्ञानी को पहचानने का चिह्न.....	४
ज्ञानी को पहचानने का चिह्न.....	९
सम्यग्दर्शन का उपदेश.....	१४
निर्विकल्परस का पान करो.....	१६
समकित सावन आयो रे.....	१७
ज्ञानी की पहचान (१).....	१९
ज्ञानी की पहचान (२).....	२५
चैतन्य की ही शरण करो.....	३२
त....त्त्व....च....र्चा.....	३६
सम्यग्दर्शन के लिये प्राप्त सुनहरा अवसर.....	४४
आत्मा को साधने की विधि.....	५०
आत्मा की धगश.....	५३
अनुभव के लिये शिष्य की मङ्गल उमङ्ग.....	५५
धर्मात्मा का स्वरूप-सञ्चेतन.....	६१
बन्धन से छुटकारे का उपाय बतलाकर.....	६६
जीव का बन्धन क्यों और उससे छुटकारा कैसे ?.....	७६
आत्मार्थी का पहला कर्तव्य.....	८०
निश्चयसम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो ?.....	८१
आँगन कैसा हो ?.....	९२

www.vitragvani.com

लेख	पृष्ठ
निश्चयसम्यग्दर्शन का मार्ग.....	१०२
नव तत्त्व का ज्ञान, सम्यग्दर्शन का व्यवहार.....	११२
भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन.....	१२७
नव तत्त्व का स्वरूप और जीव-अजीव.....	१४१
सम्यग्दर्शन के लिए अपेक्षित भूमिका.....	१५५
ज्ञायकस्वभावी शुद्ध जीव का अनुभव.....	१७३
भगवान आत्मा की प्रसिद्धि.....	१८९
भगवती प्रज्ञा.....	१९८
भगवती प्रज्ञा.....	२०३
आचार्यदेव शिष्य को समझाते हैं.....	२०७
आमन्त्रण.....	२१२
छह माह का कोर्स.....	२१६
ज्ञान को उर आनो.....	२२१
दर्शन धारो पवित्रा.....	२२२
सम्यग्दर्शन.....	२२३

www.vitragvani.com

ॐ

परमात्मने नमः

मानव जीवन का महान कर्त्तव्य

सम्यग्दर्शन

(भाग-3)

आत्मार्थी सम्बोधन

आत्मार्थ के लिये सच्ची तत्परता

जगत् के छोटे-बड़े अनेक-विध प्रसङ्गों में जीव अटक जाता है... और इससे वह उलझ जाता है... और उसी के विचार मन्थन में से बाहर नहीं निकल सकता... परिणामस्वरूप वह आत्म-प्रयत्न में आगे नहीं बढ़ सकता, उसे जागृति के लिये सम्बोधन का एक प्रकार यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

हे जीव! जिन्हें तेरे आत्मार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है - ऐसे छोटे-बड़े सन्दर्भों में तू अटकेगा तो तेरे महान आत्मप्रयोजन को तू कब साध सकेगा? जगत में अनुकूल और प्रतिकूल प्रसङ्ग तो बनते ही रहना है। तीर्थङ्कर और चक्रवर्तियों को भी ऐसे प्रसङ्ग क्या नहीं आये हैं? मान और अपमान; निन्दा और प्रशंसा; सुख और दुःख; संयोग और वियोग; रोग और निरोग; ऐसे अनेक परिवर्तनशील प्रसङ्ग तो जगत में बनते ही रहना है परन्तु तेरे जैसा

www.vitragvani.com

आत्मार्थी यदि इन छोटे-छोटे प्रसङ्गों में ही आत्मा को रोक देगा तो आत्मार्थ के महान कार्य को तू कब साध सकेगा?

इसलिए ऐसे प्रसङ्गों से अतिशय उपेक्षित हो.... उसमें अपनी शक्ति को जरा भी मत लगा। इन प्रसङ्गों का तेरे आत्मार्थ के साथ कुछ सम्बन्ध ही नहीं है - ऐसा निर्णय करके, आत्मार्थ की सिद्धि जिस प्रकार से हो, उसी प्रकार से तू प्रवर्तन कर! और आत्मार्थ की सिद्धि में बाधक हों - ऐसे परिणामों को अत्यन्तरूप से छोड़... उग्र प्रयत्न द्वारा छोड़।

विध-विध परिणामवाले जीव भी जगत में वर्ता ही करेंगे... इसलिए उसका भी खेद-विचार छोड़... और उपरोक्त संयोगों की तरह ही उनके साथ भी आत्मार्थ का सम्बन्ध नहीं है - ऐसा समझकर उनके प्रति उपेक्षित हो... और आत्मार्थ साधने में ही उग्ररूप से प्रवर्तन कर।

चाहे जो करके, मुझे मेरे आत्मार्थ को साधना है - यह एक ही इस जगत् में मेरा कार्य है; इस प्रकार अतिदृढ़ निश्चयवन्त हो। मेरे आत्मार्थ के लिए जो कुछ सहन करना पड़े, वह सहन करने को मैं तैयार हूँ परन्तु किसी भी प्रकार से मैं मेरे आत्मार्थ के कार्य से विचलित नहीं होऊँगा; उसमें किंचित् भी शिथिल नहीं होऊँगा... आत्मा के प्रति मेरे उत्साह में मैं कभी भंग नहीं पड़ने दूँगा - मेरी समस्त शक्ति को, मेरे समस्त ज्ञान को, मेरे समस्त वैराग्य को, मेरी श्रद्धा को, भक्ति को, उल्लास को - मेरे सर्वस्व को मैं मेरे आत्मार्थ में जोड़कर अवश्य मेरे आत्मार्थ को साधूँगा - ऐसे दृढ़ परिणाम द्वारा आत्मार्थ को साधने के लिये तत्पर हो!

आत्मार्थ साधने के लिये तेरी ऐसी सच्ची तत्परता होगी तो

www.vitragvani.com

जगत् में किसी की ताकत नहीं कि तेरे आत्मकार्य में विघ्न कर सके। जहाँ आत्मार्थ की सच्ची तत्परता है, वहाँ सम्पूर्ण जगत् उसे आत्मार्थ की प्राप्ति में अनुकूल परिणम जाता है और वह जीव अवश्य आत्मार्थ को साध लेता है।

इसलिए हे जीव! जगत् में दूसरा सब भूलकर, तू तेरे आत्मार्थ के लिये सच्ची तत्परता कर। ●

आत्मा का अनुभव हो तब....

जब निज आतम अनुभव आवे...
तब ओर कछु न सुहावे.... जब०
रस नीरस हो जात तत्क्षण.....
अक्ष-विषय नहीं भावे.... जब०
गोष्ठी कथा कुतूहल विघटे, पुद्गल प्रीति नशावे...
राग-द्वेष जुग चपल पक्षयुत मनपक्षी मर जावे.... जब०
ज्ञानानन्द सुधारस उमगे, घट अंतर न समावे...
'भागचन्द' ऐसे अनुभव को हाथ जोरि शिर नांवे.... जब०

अन्तर्मुख प्रयत्न द्वारा जीव को जब आत्मानुभव होता है, तब उसे दूसरा कुछ नहीं सुहाता; अनुभव रस के समक्ष अन्य सब रस तत्क्षण निरस हो जाते हैं, इन्द्रिय-विषय रुचिकर नहीं होते; हास्य कथा और कौतूहल शमन हो जाते हैं। पुद्गल की प्रीति नष्ट होती है। राग-द्वेषरूप चपल पंखवाला मन पक्षी मर जाता है, अर्थात् मन का आलम्बन छूट जाता है। इस अनुभवदशा में ज्ञान और आनन्दरूपी सुधारस ऐसा उल्लसित होता है कि अन्तर घट में समाता नहीं है – ऐसे आत्म-अनुभव का और अनुभवी सन्त का बहुमान करते हुए कवि भागचन्दजी उन्हें हाथ जोड़कर सिर नवाते हैं।

www.vitragvani.com

ज्ञानी को पहचानने का चिह्न

भेदज्ञान के लिये जिसे अन्तर में जिज्ञासा जागृत हुई है और भेदज्ञान के लिये जो अभ्यास करता है – ऐसा शिष्य पूछता है कि प्रभु! आत्मा ज्ञानस्वरूप हुआ, वह किस प्रकार पहचाना जाये? आत्मा भेदज्ञानी हुआ, वह किस प्रकार पहचाना जाये? ज्ञानी को पहचानने का चिह्न क्या? अनादि से आत्मा, विकाररूप होता हुआ अज्ञानी था, वह अज्ञान मिटकर आत्मा, ज्ञानी हुआ, वह किस चिह्न से पहचाना जाये? – यह समझाओ।

देखो! यह ज्ञानी को पहचानने की धगश! ऐसी धगशवाले शिष्य को आचार्यदेव ज्ञानी का चिह्न बतलाते हैं—

जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है।
सो नहिं करे जो, मात्र जाणे, वो हि आत्मा ज्ञानि है॥७५॥

— श्री समयसार

देखो, यह ज्ञानी को पहचानने का चिह्न! ऐसे चिह्न से ज्ञानी को पहचाननेवाले को भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहता, अर्थात् वह स्वयं भी ज्ञानी हो जाता है।

जो आत्मा, ज्ञानी हुआ, वह स्वयं को एक ज्ञायकस्वभावी ही जानता हुआ, ज्ञानभाव से ही परिणमित होता है और विकार के अथवा कर्म के कर्तारूप से वह परिणमित नहीं होता – यह ज्ञानी का चिह्न है।

यहाँ ज्ञानपरिणाम को ही ज्ञानी का चिह्न कहा है; ज्ञानी का चिह्न

www.vitragvani.com

तो ज्ञान में होता है, कहीं शरीर में या राग में ज्ञानी का चिह्न नहीं होता। शरीर की अमुक चेष्टा द्वारा या राग द्वारा ज्ञानी नहीं पहचाना जाता; ज्ञानी तो उनसे भिन्न है, इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे शिष्य! जो जीव, ज्ञान को और राग को एकमेक नहीं करता, किन्तु पृथक् ही जानता है, पृथक् जानता हुआ रागादि का कर्ता नहीं होता परन्तु ज्ञाता ही रहता है और ज्ञानपरिणाम का ही कर्ता होकर परिणमित होता है, उसे तू ज्ञानी जान।

व्याप्य-व्यापकपने के सिद्धान्त से यहाँ ज्ञानी की पहचान करायी है। जिसे ज्ञानपरिणाम के साथ व्याप्य-व्यापकपना है, वह ज्ञानी है; जिसे विकार के साथ व्याप्य-व्यापकपना है, वह अज्ञानी है। व्याप्य-व्यापकपना एकस्वरूप में ही होता है, भिन्न स्वरूप में नहीं होता; इसलिए जिसे जिसके साथ एकता होती है, उसे उसके साथ व्याप्य-व्यापकपना होता है और उसके ही साथ कर्ता -कर्मपना होता है। ज्ञानी, ज्ञान के साथ ही एकता करके उसी में व्यापक होता हुआ उसका कर्ता होता है, अर्थात् ज्ञानरूप कार्य से ज्ञानी पहचाना जाता है; ऐसा ज्ञानी, विकार के साथ एकता नहीं करता, उसमें वह व्याप्त नहीं होता और उसका वह कर्ता नहीं होता; इस प्रकार ज्ञान को विकार के साथ एकता नहीं है - ज्ञानी का ऐसा लक्षण जो जीव पहचानता है, उसे भेदज्ञान होता है, उसे विकार का कर्तृत्व उड़ जाता है और ज्ञान में ही एकतारूप से परिणमता हुआ वह ज्ञानी होता है। भेदज्ञान के बिना ज्ञानी की सच्ची पहचान नहीं होती है।

जिस प्रकार घड़े को और मिट्टी को एकता है परन्तु घड़े को

www.vitragvani.com

और कुम्हार को एकता नहीं है; उसी प्रकार ज्ञानपरिणाम को और आत्मा को एकता है परन्तु ज्ञानपरिणाम को और राग को या कर्म को एकता नहीं है; इसलिए ज्ञानपरिणाम द्वारा ही ज्ञानी का आत्मा पहचाना जाता है।

ज्ञानपरिणाम को राग से भिन्न पहचानने पर अपने में भी ज्ञान और राग की भिन्नता का वेदन होकर, ज्ञानपरिणाम के साथ अभेद ऐसा स्वयं का आत्मा पहचानने में आता है। ज्ञानी को पहचानने का प्रयोजन तो अपने आत्मा की पहचान करना ही है। जिन्होंने भेदज्ञान कर लिया है – ऐसे जीवों की पहचान द्वारा यह जीव अपने में भी ऐसा भेदज्ञान करना चाहता है। सामने ज्ञानी के आत्मा में ज्ञान और राग को भिन्न पहचाननेवाला जीव, अपने में भी ज्ञान और राग को अवश्य भिन्न पहचानता है; इसलिए उसे अवश्य भेदज्ञान होता है। भेदज्ञान होने पर यह जीव, सकल विकार के कर्तृत्वरहित होकर ज्ञायकरूप से शोभित होता है। विकार के कर्तृत्व में तो जीव की शोभा का हनन होता है और भेदज्ञान द्वारा वह कर्तृत्व छूटने से आनन्दमय ज्ञानपरिणाम से वह जीव शोभित हो उठता है। ऐसा ज्ञानपरिणाम ही ज्ञानी को पहचानने का चिह्न है।

देखो, यह ज्ञानी को पहचानने की विधि! आहा! ज्ञानी को पहचानने की विधि, आचार्यदेव ने अद्भुत बतलायी है। इस विधि से जो ज्ञानी को पहचानता है, वह स्वयं ज्ञानी हुए बिना नहीं रहता – ऐसी यह पहचान है। यह पहचान ही धर्म की महा खान है। इस विधि से जिसने ज्ञानी को पहचाना, उसने ही ज्ञानी की वास्तविक निकटता की है। जैसा ज्ञानी का भाव है, वैसा ही भाव उसने स्वयं

www.vitragvani.com

में प्रगट किया; इसलिए भाव-अपेक्षा से उसे ज्ञानी के साथ एकता हुई। बाकी क्षेत्र से भले नजदीक रहे परन्तु यदि ज्ञानपरिणाम से ज्ञानी को नहीं पहचाने और अपने में ज्ञानपरिणाम प्रगट न करे तो वह वस्तुत: ज्ञानी के नजदीक नहीं रहता; ज्ञानी के भाव से वह बहुत दूर है।

जब जीव भेदज्ञान करता है, तब वह आस्रवों से पराङ्मुख होता है, अर्थात् बन्धभाव से छूटकर मोक्षमार्ग की ओर ढलता जाता है। दु:खमय आस्रव और सुखरूप ज्ञानस्वभाव, ये दोनों भिन्न हैं - ऐसा भेदज्ञान करनेवाला जीव, उस क्षण ही ज्ञानस्वभाव के साथ एकता करके आस्रवों से पृथक् पड़ता है; ऐसे ज्ञानपरिणाम का नाम भेदज्ञान है। उसके द्वारा ही ज्ञानी पहचाना जाता है।

वह ज्ञानी-धर्मात्मा जानता है कि मैं पर से भिन्न एक हूँ, विकाररहित शुद्ध हूँ और ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ। ज्ञान से भिन्न जो कोई भाव है, वह मैं नहीं; इस प्रकार वह भेदज्ञानी धर्मात्मा, असार और अशरण संसार से पराङ्मुख होकर परम सारभूत और शरणरूप अपने स्वभाव की ओर ढलता है; इसलिए स्वभाव सन्मुख झुके हुए ज्ञानपरिणाम को ही वह करता है। ज्ञानपरिणाम के अतिरिक्त दूसरे किसी भाव का वह कर्ता नहीं होता; उसे तो स्वयं से भिन्न जानकर, वह उसका ज्ञाता ही रहता है।

आचार्यदेव प्रमोद से कहते हैं कि यहाँ से, अर्थात् जब से भेदज्ञान हुआ, तब से जगत् का साक्षी पुराण पुरुष प्रकाशमान हुआ। भेदज्ञान होने पर ही चैतन्यभगवान आत्मा अपने ज्ञानपरिणाम से जगमगा उठा... आनन्द से शोभित हो उठा।

www.vitragvani.com

इतनी बात करते ही तुरन्त ही जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उत्पन्न हुआ कि प्रभो! ऐसे ज्ञानी को किस प्रकार परखना? चैतन्य भगवान जगमगा उठा, उसे किस प्रकार पहचानना? वस्तुतः शिष्य स्वयं ऐसा भेदज्ञान प्रगट करने के लिये तैयार हुआ है; इसलिए मैं भी ऐसा भेदज्ञान किस प्रकार प्रगट करूँ? – ऐसी धगश से उसे प्रश्न उत्पन्न हुआ है।

तब आचार्यदेव उससे कहते हैं कि ज्ञानी अपने ज्ञानमय परिणाम को ही करता है; ज्ञानमय परिणाम का ही कर्तापना ज्ञानी का चिह्न है, वह ज्ञानी की निशानी है। जिस प्रकार बड़े राजा-महाराजाओं को ध्वजा में चिह्न होता है, उस चिह्न से वे पहचाने जाते हैं। ज्ञानी धर्मात्मा तो राजा का भी राजा है, उसकी ध्वजा में कोई चिह्न होगा न? तो कहते हैं कि हाँ; रागादि के अकर्तापनरूप जो ज्ञान-परिणाम, वही ज्ञानी की धर्मध्वजा का चिह्न है; उस चिह्न द्वारा ज्ञानी-राजा पहचाना जाता है और इस प्रकार ज्ञानपरिणाम द्वारा ज्ञानी को पहचाननेवाला जीव स्वयं भी उस काल में ज्ञानस्वरूप होकर, कर्तृत्वरहित होता हुआ शोभित होता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव का चिह्न बतलाया। वाह! गजब अद्भुत बात की है!! जो जागकर देखे, उसे ज्ञात हो, ऐसा है। ●

(समयसार, गाथा ७५ के प्रवचन में से)

www.vitragvani.com

आध्यात्मचर्चा

ज्ञानी का उपयोग और सम्यक्त्व का उद्यम, इस सम्बन्धी सुन्दर तत्त्वचर्चा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। यह चर्चा मुमुक्षु को विशेष मननीय है।

प्रश्न : धर्मी के ज्ञान का उपयोग पर की ओर होता है ?

उत्तर : हाँ; साधकदशा में धर्मी जीव के ज्ञान का उपयोग परसन्मुख भी होता है।

प्रश्न : ज्ञान का उपयोग परसन्मुख हो, फिर भी धर्म होता है ?

उत्तर : हाँ; परसन्मुख उपयोग के समय भी, धर्मी को सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जितना वीतरागभाव हुआ है, उतना धर्म तो वर्तता ही है; ऐसा नहीं है कि जब स्व में उपयोग हो, तब ही धर्म हो और जब पर में उपयोग हो, तब धर्म हो ही नहीं। परसन्मुख उपयोग के समय भी धर्मी को सम्यग्दर्शनरूप धर्म तो धारावाहिकरूप से वर्तता ही है। इसी प्रकार चारित्र की परिणति में जितना वीतरागी स्थिर भाव प्रगट हुआ है, उतना धर्म भी वहाँ वर्तता ही है।

प्रश्न : ज्ञानी का उपयोग भी परसन्मुख हो और अज्ञानी का उपयोग भी परसन्मुख हो - उनमें क्या अन्तर है ?

उत्तर : उसमें बहुत महान अन्तर है; सबसे पहली बात यह है कि ज्ञानी को सम्यग्दर्शन के समय एक बार तो विकल्प टूटकर उपयोग स्वसन्मुख हो गया है; इसलिए भेदज्ञान होकर प्रमाणज्ञान हो गया है; पश्चात् अब उपयोग उपयोग परसन्मुख जाये, तब भी भेदज्ञानप्रमाण तो साथ ही साथ वर्तता ही है; जबकि अज्ञानी तो

www.vitragvani.com

एकान्त पर को ही जानता है, पर से भिन्न स्वतत्त्व का उसे पता ही नहीं; इसलिए परसन्मुख उपयोग से पर को जानता हुआ वह पर के साथ ही ज्ञान की एकता मानता है; इसलिए उसका ज्ञान ही खोटा है; ज्ञानी को जगत् के किसी भी ज्ञेय को जानते समय प्रमाणज्ञान साथ का साथ ही वर्तता है, इसलिए उसे सम्यग्ज्ञान का परिणमन सदा प्रवर्तित रहा करता है। इस प्रकार अज्ञानी को तो अकेला परसन्मुख का उपयोग और अधर्म ही है; ज्ञानी को परसन्मुख के उपयोग के समय, साथ में आंशिक शुद्धतारूप धर्म भी है।

प्रश्न : स्वसन्मुख उपयोग कब होता है ?

उत्तर : अज्ञानी को तो स्वसन्मुख उपयोग होता ही नहीं; समस्त ज्ञानियों को एक बार तो निर्विकल्प अनुभूति के समय स्वसन्मुख का उपयोग हो ही गया होता है; तत्पश्चात् चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान में परसन्मुख उपयोग होता है। चौथे, पाँचवें गुणस्थान में कभी-कभी उपयोग स्व में स्थिर हो जाने पर निर्विकल्प आनन्द की विशिष्ट अनुभूति होती है; मुनिवरों को तो उपयोग बारम्बार स्व में ढला ही करता है। एक साथ अन्तर्मुहूर्त से अधिक दीर्घ काल तक उनका उपयोग पर में नहीं रहता। सातवें और वहाँ से आगे के गुणस्थानों में तो उपयोग की स्व में ही एकाग्रता होती है।

साधक का उपयोग एक साथ दीर्घ काल तक स्व में विशेष जमे तो शुक्लध्यान की श्रेणी माँढकर तुरन्त ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

मुनिदशा में तो बहुत थोड़े-थोड़े समय के अन्तराल में उपयोग स्वसन्मुख होकर बारम्बार निर्विकल्प आनन्द का अनुभव हुआ

www.vitragvani.com

करता है; जबकि चौथे-पाँचवें गुणस्थान में वह कभी होता है। उसे विशेष अन्तर पड़ता है और किसी समय तुरन्त हो जाता है।

प्रश्न : सविकल्पदशा में निश्चयनय होता है ?

उत्तर : निश्चयनय का उपयोग शुद्ध आत्मा को ही ध्येय बनाकर जब उसमें स्थिर हो जाता है, तब निर्विकल्पता ही हो जाती है; इसलिए वस्तुत: तो निश्चयनय के समय निर्विकल्पदशा ही होती है।

ऐसा होने पर भी, शुद्धस्वभाव के सन्मुख ढलते उपयोग को सविकल्पदशा में भी कहीं-कहीं निश्चयनय के रूप में कहा गया है। वहाँ वह उपयोग, शुद्धस्वभाव के सन्मुख झुकता जाता है... वह आगे बढ़ते-बढ़ते विकल्प तोड़कर अभेद द्रव्य को पहुँच जायेगा और निर्विकल्प अनुभूति में स्थिर हो जायेगा - इस अपेक्षा से सविकल्पदशा के समय भी उपयोग को उपचार से निश्चयनय कहा है। सविकल्प होने पर भी, परिणति का झुकाव, आत्मा की ओर ही ढल रह है - ऐसा यह उपचार बतलाता है।

अभेद द्रव्य की अनुभूति की ओर जिसका झुकाव नहीं, वहाँ तक जो नहीं पहुँचता, उस जीव के शुद्धस्वभाव सम्बन्धी सविकल्प चिन्तन को निश्चयनय नहीं कहा जा सकता - उपचार से भी नहीं कहा जा सकता। उसे निश्चयनय का विकल्प है-मात्र राग ही है परन्तु निश्चय 'नय' उसे नहीं है।

जीव को शुद्धनय का-निश्चयनय का 'पक्ष' भी पूर्व में कभी नहीं आया - ऐसा कहकर उसमें जो निश्चयनय के पक्ष की भी अपूर्वता बतलायी है, वह तो स्वभावसन्मुख झुक रहे जीव की बात

www.vitragvani.com

है, निकट में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की जिसकी तैयारी है और उसके लिये स्वभाव को लक्ष्य में लेकर उस ओर का जोर कर रहा है - ऐसे जीव की उस दशा को भी अपूर्व गिना है - उसे निश्चयनय का पक्ष गिना है। पश्चात् स्वभाव की ओर के जोर के कारण तुरन्त ही उसका विकल्प टूटकर अन्दर उपयोग स्थिर हो जाने पर साक्षात् निश्चयनय होता है, उस समय निर्विकल्पता है। इस निश्चयनय के उपयोग के समय आत्मा के आनन्द के साथ में ज्ञान की एकाकारता होने पर अद्भुत निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति होती है... अहो!... निर्विकल्पदशा का वह आनन्द विकल्प को गोचर नहीं है।

प्रश्न : अनादि के अज्ञानी जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पहले तो अकेला विकल्प ही होता है न?

उत्तर : नहीं, अकेला विकल्प नहीं; स्वभाव की ओर ढल रहे जीव को विकल्प होने पर भी, उसी समय आत्मस्वभाव की महिमा का लक्ष्य भी काम करता है और उस लक्ष्य के जोर से ही वह जीव आत्मा की ओर आगे-आगे बढ़ता है; किसी विकल्प के जोर से आगे नहीं बढ़ता है।

अपूर्वभाव से स्वभाव को लक्ष्यगत करके, जिसकी परिणति पहले-पहले ही शुद्धस्वभाव के अनुभव की ओर झुक रही है, उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की तैयारी है। *(ऐसे जीव की विशिष्ट परिणति का अलौकिक वर्णन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा था कि-)* स्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसके अनुभव का प्रयत्न कर रहे उस जीव को राग तो है परन्तु उसका जोर राग के ऊपर नहीं जाता, उसका जोर तो अन्तरस्वभाव की ओर ही जाता है; इसलिए

www.vitragvani.com

उसकी परिणति, स्वभावसन्मुख झुक जाती है और राग टूटकर निर्विकल्प अनुभव होता है। पहले राग था, उसका कहीं यह फल नहीं है परन्तु अन्दर स्वभाव की ओर का जोर था, उसका यह फल है। यद्यपि उसका यह फल कहना, वह भी व्यवहार है। वस्तुत: तो उस सम्यग्दर्शन के समय का प्रयत्न अलग ही है परन्तु यहाँ सम्यग्दर्शन के पहले की दशा में जो विशेषता है, वह बतलानी है, इसलिए ऐसा कहा है।

राग की ओर का जोर टूटने लगा और स्वभाव की ओर का जोर बढ़ने लगा, वहाँ (सविकल्पदशा होने पर भी) अकेला राग ही काम नहीं करता, परन्तु राग के अवलम्बनरहित, स्वभावसन्मुख के जोरवाला एक भाव भी वहाँ काम करता है और उसके जोर से आगे बढ़ते-बढ़ते पुरुषार्थ का कोई अपूर्व धड़ाका करके निर्विकल्प आनन्द के वेदनसहित सम्यग्दर्शन प्राप्त कर जाता है।

एक बार ऐसा निर्विकल्प अनुभव हो जाने के बाद ज्ञानी को वापस विकल्प भी आता है और विकल्प के समय निश्चयनय का उपयोग नहीं होता; तथापि उस समय भी उस ज्ञानी को ज्ञान का प्रमाणरूप परिणमन-सम्यग्ज्ञानपना-भेदज्ञान तो निरन्तर वर्त ही रहा है, तथा दृष्टि तो निश्चयनय के विषयरूप शुद्ध आत्मा पर ही सदा पड़ी है। अब उसे जो विकल्प उठता है, वह पहले के समान नहीं है। पहले अज्ञानदशा में तो उस विकल्प के साथ ही एकता मानकर वहीं अटक जाता था और अब भेदज्ञानदशा में तो उस विकल्प को अपने स्वभाव से पृथक् ही जानता है; इसलिए उसमें अटकना नहीं होता परन्तु शुद्धस्वभाव की ओर ही जोर रहता है। ऐसी साधक जीव की परिणति होती है। ●

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन का उपदेश

प्रश्न : आप तो सम्यग्दर्शन पर ही बहुत वजन देते हो और उसके बिना सब व्यर्थ है - ऐसा कहते हो परन्तु जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त न करें, तब तक शुभभाव के आदर का उपदेश क्यों नहीं देते हो?

उत्तर : भाई! अनादि काल के भवभ्रमण का अन्त कैसे आवे और आत्मा की मुक्ति कैसे हो? - उसके उपाय का यह उपदेश है और उसकी शुरुआत तो सम्यग्दर्शन से ही होती है। अशुभ तथा शुभ, ये दोनों प्रकार के भाव तो जीव, अनादि काल से उपदेश बिना भी करता ही आया है परन्तु उससे कोई भव-भ्रमण का अन्त नहीं आता है, इसलिए उन पर क्या वजन देना? सम्यग्दर्शन न हो तो इसे सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करना परन्तु राग को तो धर्म मानना ही नहीं। राग को धर्म मानना तो मिथ्यात्वरूप जहर का सेवन है। इसलिए जिसे भव से छूटना हो, उसके लिये तो पहले सम्यग्दर्शन का ही उपदेश है और,

जिज्ञासु जीव को सम्यग्दर्शन का अपूर्व उपाय समझने पर, उसका बहुमान करते-करते और उसका प्रयत्न करते-करते अशुभभाव टलकर उत्कृष्ट प्रकार के शुभभाव तो सहज हो जाते हैं, इसलिए वे तो गौणरूप से बीच में आ ही जाते हैं। जैसे अनाज पकने पर घास भी साथ में पक जाती है परन्तु किसान का प्रयत्न अनाज के लिये है, घास के लिये नहीं; इसी प्रकार सम्यग्दर्शन इत्यादि को साधते-साधते बीच की भूमिका में देव-गुरु का बहुमान,

www.vitragvani.com

पूजा, तत्त्वविचार इत्यादि उत्कृष्ट प्रकार का शुभभाव भी आ जाता है परन्तु धर्मी का प्रयत्न तो सम्यग्दर्शनादि के लिये है, राग के लिये उसका प्रयत्न नहीं तथा वह राग को धर्म नहीं मानता।

अशुभ टालकर शुभ करे, उसे भी व्यवहार से तो ठीक कहा जाता है परन्तु मनुष्यभव पाकर जिसने सम्यग्दर्शन नहीं किया और भव-भ्रमण का अन्त नहीं लाया तो उसके शुभ की क्या कीमत? उसने आत्मा का क्या हित किया? यहाँ तो आत्मा का हित हो और भव-भ्रमण का अन्त आवे, ऐसी बात है। जिससे आत्मा का भव -भ्रमण न मिटे, उसकी क्या कीमत?

पुण्य की सेवा करने से मोक्ष नहीं होता, परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा की सेवा, (अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-रमणता) करने से ही मोक्ष होता है; इसलिए उसका ही उपदेश है। ● *(प्रवचन में से)*

सन्त की शिक्षा

आत्मा के श्रेष्ठ भावों का श्रेष्ठ फल अवश्य आता ही है। सच्चे भाव का सच्चा फल आये बिना नहीं रहता, इसलिए दूसरे प्रसंगों को भूलकर आत्मा के भाव को जिस प्रकार प्रोत्साहन मिले, वैसे ही विचार करना। सच्चे भाव होने पर उसका सच्चा फल अवश्य आयेगा और बाहर में भी सब वातावरण अच्छा हो जायेगा। आत्मा को उलझन में नहीं रखना परन्तु उत्साह में रखना। अपने भाव सुधरने पर सब सुधर जाता है, इसलिए आत्मा को उल्लास में लाकर अपने हित के ही विचार रखना; उसमें शिथिल नहीं होना।

www.vitragvani.com

निर्विकल्परस का पान करो

भावलिंगी सन्त-मुनि को समाधिमरण का अवसर हो... आस-पास दूसरे मुनि बैठे हों, वहाँ उन मुनि को कभी तृषा से कदाचित पानी पीने की जरा-सी वृत्ति उत्पन्न हो जाये और माँगे... कि... पानी।

वहाँ दूसरे मुनि उन्हें वात्सल्य से सम्बोधन करते हैं कि अरे मुनि! यह क्या! अभी पानी की वृत्ति!! अन्तर में निर्विकल्परस का पानी पियो... अन्तर में डुबकी लगाकर अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में से आनन्द का अमृत पियो... और यह पानी की वृत्ति छोड़ो... अभी समाधि का अवसर है... अनन्त बार समुद्र भरे, इतना पानी पिया... तथापि तृषा नहीं बुझी... इसलिए इस पानी को भूल जाओ... और अन्तर में चैतन्य के निर्विकल्प अमृत का पान करो...

निर्विकल्पसमुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकं अंजुलिं कृत्वा तत् पिवंति तपस्विनः॥

तपस्वी मुनिवर विवेकरूप अंजलि द्वारा निर्विकल्पदशा में उत्पन्न होनेवाले ज्ञानरूपी सुधारस का पान करते हैं। हे मुनिश्रेष्ठ! तुम भी निर्विकल्प आनन्दरस का पान करके अनन्त काल की तृषा को बुझा दो.....

इस प्रकार जब दूसरे मुनिराज सम्बोधन करते हैं, तब वे मुनि भी तुरन्त पानी की वृत्ति तोड़ डालते हैं और निर्विकल्प होकर अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत को पीते हैं.....

अहो! धन्य उन निर्विकल्परस का पान करानेवाले वनवासी सन्तों को! ●

(- समाधिशतक, गाथा 39 पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन में से)

www.vitragvani.com

समकित सावन आयो रे.....

सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा में चैतन्यरस की धारा बरसती है, अज्ञानदशा के तीव्र आताप शमन हो जाते हैं... अनुभवरूपी बिजली की चमकार होती है.... आत्मभूमि में साधकभावरूपी अंकुर जगते हैं.... भ्रमरूपी धूल उड़ती नहीं और असंख्य आत्मप्रदेशों में सर्वत्र आनन्द... आनन्द... छा जाता है - इत्यादि प्रकार से सम्यग्दर्शन को श्रावण माह की वर्षा ऋतु की उपमा देकर कवि भूधरदासजी कैसा भाववाही वर्णन करते हैं, वह निम्न काव्य से ज्ञात होगा। (श्रावण माह में प्रसिद्ध होता, यह काव्य आध्यात्मरसिकों को विशेष प्रिय लगेगा)।

अब मेरे समकित-सावन आयो.....
बीती कुरीति-मिथ्यामति ग्रीषम,
पावस सहज सुहायो.....
.....अब मेरे समकित-सावन आयो।

आज हमारे सम्यक्त्वरूपी श्रावण आया है; कुरीति और मिथ्या-मतिरूपी ग्रीष्मकाल अब बीत गया है और आत्मिकरस की सहज वर्षा शोभ रही है। आज मेरे ऐसा सम्यक्त्वरूपी श्रावण आया है।

अनुभव-दामिनी दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो,
बोले विमल विवेक-पपीहा, सुमति सुहागिन भायो
.....अब मेरे समकित-सावन आयो....

सम्यक्त्वरूपी श्रावण आने पर, आत्म-अनुभवरूपी बिजली चमकने लगी है और सम्यक्रुचिरूप घनघोर घटा से आत्मिक आकाश आच्छादित हो गया है; विमल, विवेकरूपी पपीहा 'पीयु...

www.vitragvani.com

पीयु... ' बोलते हैं और उनकी पीयु... पीयु मधुर ध्वनि सुमतिरूप सुहागिनों को बहुत प्रिय लगती है - आज हमारे ऐसा सम्यक्त्वरूपी श्रावण आया है।

गुरुधुनि-गरज सुनत शुख उपजत, मोर-सुमन विहसायो....
साधक भाव-अंकूर उठे बहु, जित तित हरष सवायो....
.....अब मेरे समकित-सावन आयो.....

सम्यक्त्वरूपी वर्षा ऋतु में, श्री वीतराग गुरु की ध्वनिरूप मेघ गर्जना सुनकर सुख उत्पन्न होता है और सुबुद्धिजनों के चित्तरूपी मयूर विकसित हुआ है। आत्मक्षेत्र में साधकभावरूपी अंकुर उगे हैं और असंख्य प्रदेश चैतन्यभूमि में सर्वत्र आनन्द-आनन्द छा गया है... अहो! आज मेरे सम्यक्त्वरूपी सावन आया है।

ऐसी आनन्दकारी सम्यक्त्वरूपी वर्षा ऋतु में सदा लवलीन रहने की भावनापूर्वक अन्तिम कड़ी में कवि कहते हैं कि -

भूल-धूल कहीं मूल न सूझत, समरस-जल झर लायो
'भूधर' क्यों नीकसे अब बाहिर, जिन निरचू घर पायो....
.....अब मेरे समकित-सावन आयो.....

आत्मा में सम्यक्त्वरूपी वर्षा होने से भूलरूपी धूल कहीं उड़ती दिखायी नहीं देती और सर्वत्र समरसरूपी पानी का झरना, फूट निकला है। इसलिए कलाकार कवि (भूधरदासजी) कहते हैं कि अब भू-धर बाहर कैसे निकलेगा ? अब हम हमारे निजघर से बाहर नहीं निकलेंगे क्योंकि **निरचू** कभी भी नहीं चूता - ऐसा घर -अविनश्वर आध्यात्मिक स्थान हमने प्राप्त कर लिया है। इसलिए अब तो वहीं रहकर हम सम्यक्त्वरूपी श्रावण का आनन्द भोगेंगे। - आज हमारे सम्यक्त्वरूपी सावन आया है। ●

www.vitragvani.com

ज्ञानी की पहचान (१)

(समयसार गाथा ७५ से ७९ के भेदज्ञान-प्रेरक अद्भुत प्रवचनों से)

ज्ञानी हुआ आत्मा किस प्रकार पहचाना जाता है ? उसका चिह्न क्या ? - ऐसा शिष्य का प्रश्न था; उसके उत्तर में आचार्य भगवान ने कहा कि जो ज्ञानी है, वह जीव, ज्ञानस्वभावी अपने आत्मा को रागादि से भिन्न जानता हुआ, अपने निर्मल ज्ञान-परिणाम को ही करता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी परभाव को ज्ञान के कार्यरूप जरा भी नहीं करता; उनका वह जाननेवाला ही रहता है, यह ज्ञानी का चिह्न है।

अब **प्रश्न** होता है कि ज्ञानी, पुद्गल कर्म को तथा रागादि परिणाम को जानता है, तो उन्हें जानने पर, उनके साथ उस ज्ञानी को कर्ता-कर्मपना है या नहीं ? राग को जानते समय ज्ञानी, राग का कर्ता होता है या नहीं होता ? उसके **उत्तर** में आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानी, रागादिक को जानता होने पर भी, वह उनमें अन्तर्व्यापक नहीं होता, राग को वह अपने ज्ञान से बाह्य स्थित जानता है; इसलिए रागादि की शुरुआत में, मध्य में या अन्त में वह जरा भी व्याप्त नहीं होता, उनमें जरा भी तन्मय नहीं होता, उन्हें ज्ञानस्वरूप में ग्रहण नहीं करता, उनमें एकतारूप परिणमित नहीं होता और उस रागरूप उत्पन्न नहीं होता; वह राग को जानते समय राग से भेदज्ञानरूप ही परिणमित होता है, ज्ञानस्वरूप को ही स्वरूप से ग्रहण करके उसमें एकतारूप परिणमता है, राग से भिन्न ज्ञानरूप ही उत्पन्न होता है।

इस प्रकार ज्ञानरूप ही उत्पन्न होते हुए उस ज्ञानी को, रागादि

www.vitragvani.com

के साथ या पर के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है। राग को जानने के उपयोग के समय भी उसे राग के साथ किंचित् भी कर्ता-कर्मपना नहीं है; उस उपयोग के साथ ही कर्ता-कर्मपना है।

देखो, साधक की दशा! साधक का जहाज, राग के आधार से नहीं चलता; वह तो स्वावलम्बी चैतन्य के आधार से ही चलता है। आहा...! साधक ज्ञानी-धर्मात्मा अपने उपयोग में रागादि को किंचित्मात्र भी ग्रहण करता ही नहीं तो उस राग के अवलम्बन से साधक की शुद्धता बढ़े - ऐसा कैसे हो? चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से साधक की शुद्धता बढ़ती है, यह नियम है।

जैसे पुद्गल के परिणामस्वरूप कर्म में पुद्गल ही व्यापक है, जीव उनमें व्यापक नहीं है; जीव यदि पुद्गल के कार्य में व्यापे, तब तो वह अजीव हो जाये; जैसे मिट्टी की अवस्थारूप घट में (आदि में, मध्य में या अन्त में) सर्वत्र मिट्टी ही व्यापक है, कुम्हार उसमें व्यापक नहीं है; यदि कुम्हार उसमें व्यापक होवे तो कुम्हार स्वयं ही घट हो जाये! जिस प्रकार मिट्टी स्वयं घट होकर उसे करती है, वैसे कुम्हार स्वयं कहीं घड़ा नहीं होता, अर्थात् वह उसे नहीं करता; इसी प्रकार रागादि परिणामों में शुद्धनिश्चय से जीव को व्यापकपना नहीं है। जीव तो ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानपरिणाम में ही उसका व्यापकपना है। जीव स्वयं ज्ञानरूप होकर उसका कर्ता होता है परन्तु जीव स्वयं रागरूप नहीं हो जाता; इसलिए वह राग का कर्ता नहीं है। ज्ञानी अपने आत्मा को उपयोगस्वरूप ही जानता है, रागस्वरूप नहीं जानता; इसलिए उसके द्रव्य में, गुण में और पर्याय में सर्वत्र ज्ञान का ही व्यापकपना है, राग का उसमें व्यापकपना नहीं है; अथवा उसकी पर्याय की आदि में-मध्य में-

www.vitragvani.com

अन्त में सर्वत्र उपयोग ही व्यापता है परन्तु उसमें कहीं राग व्यापता नहीं है, राग तो बाह्य ही रहता है; इसलिए ज्ञानी-धर्मात्मा को उस राग के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है; मात्र ज्ञाताज्ञेयपना ही है। जैसे स्तम्भ इत्यादि परद्रव्य को ज्ञानी अपने ज्ञान से भिन्न जानता है, उसी प्रकार रागादि परभावों को भी ज्ञानी अपने ज्ञान से भिन्न जानता है।

प्रश्न : इसमें पुरुषार्थ आया है ?

उत्तर : अरे भाई! अन्तर का महावीतरागी पुरुषार्थ इसमें आता है। अनन्त परद्रव्यों से और सर्व परभावों से अपने ज्ञान को पृथक् का पृथक् ही रखना-इसमें ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ है। बाहर में दौड़-भाग करे, उसमें अज्ञानी को पुरुषार्थ दिखता है, पर्वत खोदने में अज्ञानी को पुरुषार्थ भासित होता है परन्तु ज्ञान, राग से भिन्न पड़कर स्वयं अपने चिदानन्दस्वभाव में स्थिर हुआ, उसमें रहा हुआ अपूर्व -अचिन्त्य सम्यक् पुरुषार्थ अज्ञानी को नहीं दिखता है।

निर्मल पर्याय की अनुभूति को आत्मा के साथ अभेदता होने से उस अनुभूति को निश्चय से आत्मा ही कहा और रागादि भावों को उस अनुभूति से भिन्नता होने से उन रागादि को निश्चय से पुद्गल का ही कहा है। इस प्रकार भेदज्ञान की अनुभूति में ज्ञानी को स्व-पर का स्पष्ट बंटवारा हो जाता है।

देखो, यह ज्ञानी-धर्मात्मा की दुकान का माल! ज्ञानी के पास तो ज्ञान; और राग की मिलावटरहित शुद्धज्ञानरूप स्पष्ट माल मिलेगा; ज्ञान और राग की मिलावट वे नहीं करते हैं। जैसे जिन्हें ब्रह्मचर्य का रंग है - ऐसे सन्तों से तो ब्रह्मचर्य के पोषण की ही बात मिलेगी, वहाँ कहीं विषय-कषाय के पोषण की बात नहीं मिलेगी;

www.vitragvani.com

इसी प्रकार जिसने राग और ज्ञान का स्पष्ट विभाजन कर दिया है और ज्ञानस्वभाव का रंग लगाया है, ऐसे ज्ञानी-धर्मात्मा से तो वीतरागी भेदज्ञान के पोषण की ही बात मिलेगी; राग के पोषण की बात ज्ञानी के पास नहीं होती। 'राग करते-करते तुझे धर्म का लाभ होगा' - ऐसी बात ज्ञानी के पास नहीं होती। ज्ञानी तो ऐसा कहते हैं कि तेरा ज्ञान, राग से अत्यन्त भिन्न स्वभाववाला है; इसलिए तू ज्ञान को और राग को भिन्न-भिन्न पहचानकर तेरे ज्ञान की ओर झुक और राग से पृथक् हो। ज्ञान की रुचि कर और राग की रुचि छोड़।

ज्ञानी, अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्द इत्यादि निर्मल पर्यायरूप परिणमित हुए हैं, उस निर्मल पर्यायों को स्वयं तन्मयरूप से जानते हैं, अर्थात् उन निर्मल पर्यायों के साथ तो उन्हें कर्ता-कर्मपना है, परन्तु परद्रव्य के साथ या परभावों के साथ उन्हें कर्ता-कर्मपना नहीं है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, आनन्दरूप जो निर्मल भाव हैं, वे ही आत्मा के परिणाम हैं और उन निर्मल भावों के आदि-मध्य-अन्त में सर्वत्र आत्मा स्वयं ही अन्तर्व्यापक है। निर्मल परिणामों में राग अन्तर्व्यापक नहीं, राग तो बाह्य है। आत्मा ही निर्मल परिणामों में अन्तरंगरूप से व्यापक है; इसलिए ज्ञानी को अपने निर्मल परिणामों के साथ ही कर्ता-कर्मपना है, रागादि के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है।

अहा! ऐसे भेदज्ञान की वार्ता, ज्ञानी के मुख से अपूर्व उल्लासभाव से जो सुनता है, उसे चैतन्य खजाना खुल जाता है। श्री पद्मनन्दिस्वामी कहते हैं -

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापिऽहि श्रुता।
निश्चितं स भवेत्भव्यो भाविनिर्वाण भाजनम्॥

www.vitragvani.com

चैतन्यस्वरूप आत्मा के प्रति प्रीतिचित्तपूर्वक उसकी वार्ता भी जिसने सुनी है, वह भव्य जीव निश्चय से भावी निर्वाण का भाजन है।

और, आदिनाथ भगवान की स्तुति में वे कहते हैं कि हे भगवान! आपने केवलज्ञान प्रगट करके अपने तो चैतन्यनिधान खोले और दिव्यध्वनि द्वारा चैतन्यस्वभाव दर्शाकर जगत के जीवों के लिये भी आपने अचिन्त्य चैतन्यनिधान खुले रख दिये हैं। अहा! उस चैतन्यनिधान के समक्ष चक्रवर्ती के निधान को भी तुच्छ जानकर कौन नहीं छोड़ेगा? राग को और राग के फलों को तुच्छ जानकर धर्मी जीव अन्तर्मुखरूप से चैतन्यनिधान को साधते हैं। सम्यग्दर्शनादि समस्त निर्मलभाव की आदि में चैतन्य का ही अवलम्बन है, मध्य में भी चैतन्य का ही अवलम्बन है और अन्त में भी चैतन्य का ही अवलम्बन है, परन्तु ऐसा नहीं है कि सम्यग्दर्शन की शुरुआत में राग का अवलम्बन हो! सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् मध्य में भी राग का अवलम्बन नहीं और पूर्णता के लिये भी राग का अवलम्बन नहीं – आदि, मध्य या अन्त में कहीं निर्मल परिणाम को रागादि के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, उनसे भिन्नता ही है। इस प्रकार निर्मल परिणामरूप से परिणमित ज्ञानी को विकार के साथ जरा भी कर्ता-कर्मपना नहीं है।

राग, कर्ता और निर्मल पर्याय उसका कर्म – ऐसा नहीं है तथा ज्ञानी, कर्ता और राग उसका कर्म – ऐसा भी नहीं है। ज्ञानी के जो निर्मल परिणाम हैं, वे तो अन्तर स्थित हैं और राग तो बाह्य स्थित हैं। एक ही काल में वर्तते ज्ञान और राग में ज्ञान तो अन्तर स्थित है और राग तो बाह्य स्थित है। ज्ञानी अन्तःस्थित ऐसे अपने निर्मल परिणाम के कर्तारूप ही परिणमते हैं और बाह्य स्थित रागादि के

www.vitragvani.com

कर्तापने नहीं परन्तु ज्ञातापने ही परिणमते हैं। ज्ञान परिणाम तो अन्तर्मुख स्वभाव के आश्रय से हुए हैं और राग परिणाम तो बहिर्मुख झुकाव से-पुद्गल के आश्रय से हुए हैं। आत्मा के आश्रय से हुए, उसे ही आत्मा का परिणाम कहा और पुद्गल के आश्रय से हुए, उन्हें पुद्गल के ही परिणाम कह दिया है। राग की उत्पत्ति आत्मा के आश्रय से नहीं होती; इसलिए राग, आत्मा का कार्य नहीं है। ऐसे आत्मा को जानता हुआ, ज्ञानी अपने निर्मल परिणाम को ही करता है, उसके परिणाम का प्रवाह चैतन्यस्वभाव की ओर बहता है; राग की ओर उसका प्रवाह नहीं बहता है।

निर्मल परिणामरूप से परिणमित आत्मा, राग में तन्मयरूप परिणमित नहीं होता। जैसे घड़े में सर्वत्र मिट्टी तन्मय है; उसी प्रकार किसी राग में ज्ञानी का परिणाम तन्मय नहीं है। ज्ञानी के परिणमन में तो अध्यात्मरस की रेलमछेल है। चैतन्य के स्वच्छ महल में रागरूप मेल कैसे आवे? ज्ञानी, राग से पृथक् का पृथक् रहकर, अपनी निर्मलपर्याय को तन्मयरूप से जानता है। द्रव्य-गुण और उसके आश्रय से उत्पन्न होनेवाली निर्मलपर्याय - इन सबको एकाकाररूप से ज्ञानी जानता है और राग से अपने को भिन्नरूप जानता है। भेदज्ञान द्वारा झटक-झटककर राग को चैतन्य से अत्यन्त भिन्न कर डाला है। कैसा भिन्न? कि जैसे परद्रव्य भिन्न हैं, वैसा ही राग भी चैतन्य से भिन्न है। ऐसे भेदज्ञान के बिना साधकपना होता ही नहीं। चैतन्य को और राग को स्पष्ट भिन्न जाने बिना किसे साधना और किसे छोड़ना — इसका निर्णय कहाँ से करेगा? और इसके निर्णय बिना साधकपने का पुरुषार्थ कहाँ से होगा? भेदज्ञान द्वारा दृढ़ निर्णय के जोर बिना साधकपने का चैतन्य की ओर का पुरुषार्थ शुरु ही नहीं होता। ●

www.vitragvani.com

ज्ञानी की पहचान (२)

(समयसार गाथा ७६ से ७९ के भेदज्ञानप्रेरक अद्भुत प्रवचनों से)

सन्त कहते हैं कि हम ज्ञानी का जो अन्तरङ्ग चिह्न बतलाते हैं, उस अन्तरङ्ग चिह्न द्वारा जो ज्ञानी को पहचानता है, उस जीव को अवश्य भेदज्ञान होता है।

जो जीव, भेदज्ञान करके राग से भिन्न निर्मल परिणामरूप परिणमित हुआ है, वह ज्ञानी जीव अपने निर्मल सम्यग्दर्शनादि परिणाम को नि:शङ्क जानता है। सम्यग्दर्शन हो और पता नहीं पड़े - ऐसा नहीं होता है। धर्मी जीव अपने निर्मल परिणाम को तथा रागादि को भी जानता है परन्तु जब राग को जानने की ओर उपयोग हो, तब उस राग का कर्ता होता होगा! ऐसी शङ्का नहीं करना। राग को जानने पर भी वह उसका कर्ता नहीं है, क्योंकि राग के साथ उपयोग को एकमेक नहीं करते और राग को उपयोग में प्रवेश नहीं होने देते।

धर्मी, राग को जाने और निर्मल परिणाम को भी जाने परन्तु उसमें इतना अन्तर है कि राग को जानते हुए उसके साथ कर्ता -कर्मपना नहीं है और निर्मल परिणाम को जानते हुए उसके साथ कर्ता-कर्मपना है, अर्थात् राग को तो परज्ञेयरूप से जानते हुए उसके अकर्ता रहते हैं और निर्मल परिणाम को स्वज्ञेयरूप से जानते हुए उसके साथ कर्ता-कर्मरूप प्रवर्तते हैं। जहाँ राग को शुद्ध स्वज्ञेय से भिन्न जाना, वहाँ राग की ओर के पुरुषार्थ का जोर टूट गया और स्वज्ञेय-सन्मुख पुरुषार्थ ढला। देखो! यह ज्ञानी को पहचानने की विधि कही जाती है।

www.vitragvani.com

राग और ज्ञान का भेद डालकर, जहाँ स्वभाव-सन्मुख झुका वहाँ निर्मल परिणामरूप कार्य और उसका ज्ञान दोनों साथ ही वर्तते हैं। निर्मल परिणाम हो और उसे न जाने - ऐसा नहीं होता तथा भेदज्ञान हो और निर्मल परिणति न हो - ऐसा भी नहीं होता। भेदज्ञान का होना और आस्रवों का छूटना, अर्थात् सम्यग्दर्शनादि निर्मलता का प्रगट होना - इसका एक ही काल है। ज्ञान अन्धा नहीं है कि अपने निर्मल कार्य को न जाने। 'हमें श्रद्धा-ज्ञान हुए हैं या नहीं इसका पता नहीं परन्तु चारित्र करने लगो' - ऐसा कोई कहता है - परन्तु भाई! तेरे श्रद्धा-ज्ञान का अभी ठिकाना नहीं है, किस ओर जाना है, इसका पता नहीं है, मार्ग को निहारा नहीं है तो अन्धे-अन्धे तू किस मार्ग पर जायेगा? मोक्षमार्ग के बदले अज्ञान से बन्धमार्ग में ही चला जायेगा। सम्यग्दर्शन हो, वहाँ स्वयं को पता पड़ता है कि मार्ग खुल गया... स्वभाव श्रद्धा में आया - अनुभव में आया और अब इस स्वभाव को ही मुझे साधना है। इस स्वभाव में ही मुझे एकाग्र होना है - ऐसा दृढ़ निश्चय हुआ। ऐसे निश्चय के बिना मार्ग की शुरुआत भी नहीं होती।

द्रव्य-गुण और उसके आश्रय से प्रगट हुई निर्मल परिणति — ये तीनों एकाकार सुखरूप है, निर्विकार है। इसमें दुःख नहीं, इसमें विकार का कर्तृत्व या हर्ष-शोक का भोक्तृत्व नहीं है। आहा! ज्ञानी को अपने निर्मल आनन्द का ही भोग है, हर्ष-शोक का वेदन स्वभाव में से नहीं आता; इसलिए स्वभावदृष्टि में ज्ञानी उसके भोक्ता नहीं हैं। निर्मल परिणति में कर्मफल का अभाव है, निर्मल परिणति में तो स्वाभाविक आनन्द का ही वेदन है। जो हर्ष-शोक की वृत्ति है, वह धर्मी आत्मा का कार्य नहीं है; धर्मी का आत्मा — उसका द्रव्य-गुण या निर्मल पर्याय, उस विकार का

www.vitragvani.com

कारण नहीं है। विकार के साथ उसे कारण-कार्यपने का अभाव है; मात्र ज्ञेय-ज्ञायकपना ही है।

अहा! भेदज्ञानी के सम्यक् अभिप्राय में (स्वभाव की) कितनी महत्ता है!! और अज्ञानी के विपरीत अभिप्राय में स्वभाव का कितना अनादर है!! इसका लोगों को ख्याल नहीं आता। जहाँ भेदज्ञान हुआ, वहाँ चैतन्यस्वभाव में ही स्वपने का सम्यक् अभिप्राय हुआ और अन्य सबसे परिणति भिन्न पड़कर स्वभावोन्मुख हुई। अज्ञानी, राग और ज्ञान की एकताबुद्धि से सम्पूर्ण आत्मा को रागमय मान रहा है।

जगत् के भय से नीति निपुण पुरुष अपने धर्म-मार्ग को नहीं छोड़ते। जहाँ भेदज्ञान हुआ, वहाँ ज्ञानी को सम्पूर्ण जगत् से उपेक्षा हुई; जगत् का कोई तत्त्व मेरी निर्मल परिणति का कारण नहीं, मेरी निर्मल परिणति का कारण तो मेरा आत्मा ही है। मेरे आत्मा के अतिरिक्त जगत् के तत्त्व मुझसे बाह्य हैं, उनका मेरे अन्तर में प्रवेश नहीं हैं तो बाहर में रहकर मुझमें वे क्या करेंगे? द्रव्य, गुण और निर्मलपर्याय के पिण्डरूप शुद्धात्मा ही मेरा अन्तरङ्ग तत्त्व है, ऐसे जो अनुभवता है, वही ज्ञानी है, वही धर्मी है।

(समयसार) ७६-७७-७८ गाथा में ऐसा कहा है कि जो ज्ञानी हुआ, वह आत्मा अपने निर्मल परिणाम को ही करता है, इसके अतिरिक्त रागादि भाव के साथ या कर्मों के साथ उसे कर्ता-कर्मपना नहीं है। जो निर्मल भाव प्रगट हुआ, वह कर्मबन्धन में निमित्त भी नहीं है।

अब, ७९ वीं गाथा में ऐसा कहते हैं कि पुद्गलद्रव्य को जीव के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है, अर्थात् आत्मा के शुद्धभाव, पुद्गल के अवलम्बन से प्रगट नहीं हुए। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का

www.vitragvani.com

लक्ष्य परद्रव्य के प्रति नहीं होता; चैतन्य के ही अवलम्बन से वे सम्यग्दर्शन आदि प्रगट होते हैं, इसलिए पुद्गलद्रव्य, चैतन्य के परिणाम को करता नहीं है। पुद्गलद्रव्य की अपेक्षा से चैतन्य के निर्मल परिणाम परद्रव्य हैं। उन परद्रव्य परिणाम में पुद्गल व्याप्त नहीं होता। पुद्गल कहने से पुद्गल की ओर का भाव भी उसमें ही जाता है। क्या शुभराग का अवलम्बन था, इसलिए सम्यग्दर्शन हुआ? – नहीं; यदि राग के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन हो, तब तो राग, सम्यग्दर्शन में अन्तर्व्यापक हो जाये परन्तु ऐसा नहीं है। राग को चैतन्य के निर्मल परिणाम के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है।

देह की क्रिया, चैतन्यपरिणाम का कारण हो – ऐसा भी नहीं है। चैतन्य के निर्मल परिणाम में सर्वत्र (आदि-मध्य-अन्त में) चैतन्य ही व्यापक है, उसमें कहीं राग या पुद्गल व्यापक नहीं है।

दर्शनमोहकर्म नष्ट हुआ और सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ – तो क्या उसमें पुद्गलकर्म कर्ता और सम्यग्दर्शन उसका कार्य- ऐसा है? — नहीं; कर्म में दर्शनमोहपर्याय नष्ट होकर दूसरी जो अवस्था हुई, उसमें पुद्गल ही व्यापक है और जीव में जो सम्यग्दर्शन हुआ, उसमें जीव स्वयं ही व्यापक है। इस प्रकार पुद्गल को ज्ञानी के परिणाम के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है। अज्ञानी को पुद्गलकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु यहाँ तो ज्ञानी के परिणाम की बात है। ज्ञानी के निर्मल परिणाम को पुद्गलकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी टूट गया है। पुद्गल से निरपेक्षरूप से ही ज्ञानी अपने सम्यग्दर्शनादि भावोंरूप परिणमित होता है। अनादि के अज्ञान से हुआ जो विकार के साथ का कर्ता -कर्मपना; वह ज्ञानी को छूट गया है।

www.vitragvani.com

चैतन्यपद, वही आत्मा का पद है; विकार, वह आत्मा का पद नहीं है, वह तो अपद है — ऐसे चैतन्य पद को पहचानने पर ही भगवान सर्वज्ञदेव की वास्तविक पहचान होती है। जिनेन्द्रदेव के दर्शन से मिथ्यात्व के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं - ऐसा शास्त्रों में कहा है परन्तु वह किस प्रकार? भगवान सर्वज्ञदेव का आत्मा अकेला चैतन्यपिण्ड है, राग से रहित है — ऐसा ही अपना आत्मस्वभाव स्वीकार करे तो जिनेन्द्रदेव को देखा कहलाये और तब ही मोह का नाश हो परन्तु राग के साथ आत्मा को एकाकार माने तो उसने भगवान को भी नहीं पहचाना। जो राग से लाभ मानता है, वह भगवान का दर्शन नहीं करता परन्तु राग का ही दर्शन करता है; वह राग को ही देखता है, राग से भिन्न चैतन्य को वह नहीं देखता है।

जीव के शुद्धरत्नत्रय को राग का जरा भी अवलम्बन है? तो कहते हैं कि नहीं; राग के अवलम्बन से रत्नत्रय होना जो मानता है, वह जीव वास्तव में राग का उपासक है; वह वीतराग भगवान के मार्ग का उपासक नहीं है। जो राग से लाभ मानता है, वह जीव, राग से पृथक् पड़ने का पुरुषार्थ कैसे करेगा? अरे! राग से चैतन्य की भिन्नता को पहले जाने भी नहीं; वह शुद्ध आत्मा को किस प्रकार श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में लेगा? ज्ञानी तो जानता है कि मेरे शुद्धरत्नत्रय को पर का या राग का किञ्चित् भी अवलम्बन नहीं है; मेरा आत्मा स्वयं ही कर्ता होकर मेरे निर्मल परिणाम को करता है, दूसरा कोई नहीं।

जिस प्रकार ज्ञानी जीव, रागादि परिणाम को या परद्रव्य के परिणाम को करता नहीं; उसी प्रकार पुद्गल भी 'परद्रव्य के

www.vitragvani.com

परिणाम को' करता नहीं; परद्रव्य के परिणाम, अर्थात् जीव के निर्मल परिणाम, वे पुद्गल की अपेक्षा से परद्रव्य हैं, उन्हें पुद्गल नहीं करता। जीव अपने स्वभावपरिणामरूप परिणमता है और उस परिणाम में वह स्वयं ही व्यापता है; पुद्गल या राग उसमें व्याप्त नहीं होता, इसलिए वे निर्मल परिणाम अजीव का (या राग का) कार्य नहीं है। पुद्गलद्रव्य उसके स्वभावरूप कार्य में व्याप्त होता है।

हर्ष-शोक, राग-द्वेषरूप विभाव, वह जीव के स्वभाव का कार्य नहीं है; इसलिए परमार्थ में उसे पुद्गल के स्वभावरूप कार्य कहा है। शुद्धपरिणाम की परम्परा को 'आगमपद्धति' कहा जाता है, आगमपद्धति स्वभावरूप है और विकार तथा कर्म की परम्परा को 'कर्मपद्धति' कहा जाता है, दोनों धारा ही अत्यन्त पृथक् है। विकार, वह कर्म का स्वभाव है; निर्मल परिणाम, वह जीव का स्वभाव है। विकार, वह जीव का स्वभाव-कार्य कैसे हो? स्वभाव का कार्य स्वभाव जैसा शुद्ध ही होता है। अशुद्धता कहाँ से आयी? तो कहते हैं कि पुद्गल के आश्रय से आयी हुई अशुद्धता पुद्गल का ही स्वभाव है, जीव के स्वभाव में से वह अशुद्धता नहीं आती।

क्षयोपशम सम्यक्त्व में से क्षायिक सम्यक्त्व हुआ, वहाँ वह क्षायिक सम्यक्त्वरूप कार्य, जीव का प्राप्य कर्म है, वह क्षयोपशम-भाव का प्राप्य कर्म नहीं। इस प्रकार समस्त गुणों की पर्यायों में समझना। पूर्व की निर्मल पर्याय भी दूसरी निर्मल पर्याय को प्राप्त नहीं करती - तो फिर विकार या निमित्त उस निर्मल पर्याय को प्राप्त करे, यह बात कहाँ रही? शुद्धपर्याय को अशुद्धता के साथ या

www.vitragvani.com

परद्रव्य के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है; शुद्धपर्याय को द्रव्य के साथ ही कर्ता-कर्मपना है। द्रव्य के साथ पर्याय का एकत्व होने पर निर्मल कार्य हुआ है। द्रव्य ही अपनी शक्ति से निर्मल पर्याय का कर्ता होता है; वहाँ उसके निर्मल कार्य में विकार का और कर्म इत्यादि का तो अभाव ही है। अज्ञानभाव से तो जीव ही विकार का कर्ता है परन्तु यहाँ तो ज्ञानी की पहचान की बात है; भेदज्ञान द्वारा जहाँ अज्ञान का नाश हुआ, वहाँ अज्ञानजनित कर्ता-कर्मपना भी ज्ञानी को छूट गया। उस ज्ञानी को परद्रव्य के साथ कर्ता-कर्मपना किञ्चित्मात्र भी नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि निर्मल परिणामों का ही कर्तारूप से प्रकाशित होता हुआ ज्ञानी शोभित होता है।

ज्ञानी अपनी ओर पर की परिणति को भिन्न-भिन्न जानता हुआ, ज्ञानभाव से ही प्रवर्तता है और पुद्गलद्रव्य अपनी या पर की परिणति को किञ्चित्मात्र भी जानता नहीं — रागादिभाव भी स्व का या पर को नहीं जानते, इसलिए वे भी ज्ञान से भिन्न ही हैं। इस प्रकार स्पष्ट भिन्नपना होने से ज्ञान को और पर को किञ्चित्मात्र भी कर्ता-कर्मपना नहीं है। जहाँ ऐसी भेदज्ञान ज्योति जागृत हुई, वहाँ अज्ञानजनित कर्ता-कर्मपने को वह चारों ओर से अत्यन्त नष्ट कर डालती है। जब तक भेदज्ञान ज्योति प्रगट नहीं हुई, तब तक ही भ्रम के कारण जीव-पुद्गल को कर्ता-कर्मपना भासित होता है और ज्ञान तथा राग के बीच भी अज्ञानी को भ्रम से ही कर्ता-कर्मपना भासित होता है। ज्ञानभाव में उस कर्ता-कर्म प्रवृत्ति का अत्यन्त अभाव है। ज्ञानस्वभावी भगवान अपने ज्ञानमय कार्य में शोभित होता है, इसका नाम धर्म है और यह मोक्ष का मार्ग है। ●

www.vitragvani.com

यदि मरण से बचना हो.... और आत्मा की शान्ति चाहिए हो तो

चैतन्य की ही शरण करो

जीव इस देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप है, वह कभी नया नहीं हुआ परन्तु अनादि से है। वह अनादि काल से अपने अज्ञान के कारण संसार परिभ्रमण में जन्म-मरण कर रहा है; उस जन्म-मरण से छूटकर मोक्ष होने का उपाय बतलाते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीवों! मरण से बचना हो तो उसका उपाय वीतरागी संयम है; और वह संयम, चैतन्यमूर्ति आत्मा के भान बिना प्रगट नहीं होता; इसलिए पहले आत्मा को पहचानो; वह एक ही शरण है। संसार में जीव अशरण है। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा चैतन्यस्वभाव कहा है, उसे ही शरणभूत जानकर उसकी आराधना करना, वह मोक्ष का उपाय है। इसलिए कहा है कि —

सर्वज्ञ का धर्म सुशर्ण जाणी,
आराध्य! आराध्य! प्रभाव आणी;
अनाथ एकान्त सनाथ थाशे,
ऐना बिना कोई न बांह्य सहाशे।

(श्रीमद् राजचन्द्र)

हे जीव! सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा का जैसा स्वभाव कहा है, उसे ही शरणभूत जानकर उसकी आराधना कर... आराधना कर! इसके अतिरिक्त दूसरा कोई जगत् में शरण नहीं है। आत्मा के भान बिना एकान्त अनाथपना है, वह मिटकर चैतन्य की शरण में ही तेरा सनाथपना होगा.... इसलिए हे भाई! आत्मा की पहचान करके उसकी शरण ले।

www.vitragvani.com

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और उसमें लीनतारूप धर्म, वही जीवों को शरणभूत है। उस धर्म के अतिरिक्त दूसरा कोई शरण नहीं है। स्वर्ग के इन्द्र को भी चैतन्य की शरण के अतिरिक्त दूसरा कोई शरण नहीं है। चारों ओर हजारों देवों की सेना अङ्गरक्षकरूप से खड़ी हों, वह भी मरण के समय शरण नहीं होती। वह इन्द्र तो सम्यग्दृष्टि है, एकावतारी होता है, अन्तर में आत्मा की शरण का उसे भान है; देह छूटने का प्रसङ्ग नजदीक आने पर शाश्वत् जिनप्रतिमा की शरण में जाकर उनके चरण-कमल पर हाथ रखकर कहता है कि हे नाथ! हे सर्वज्ञदेव! आपके द्वारा कथित वीतरागी धर्म की ही मुझे शरण है। हे प्रभु! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो है, अब मनुष्यभव में चारित्र की आराधना करके मैं भी भवभ्रमण का नाश करूँगा... इस प्रकार आराधना की भावना भाते-भाते शान्ति से देह छूट जाती है और मनुष्यभव में अवतरित होता है, वहाँ चैतन्य के प्रति दृष्टि लगाकर... लीन होकर... नग्न-दिगम्बर मुनिदशा धारण करता है और पश्चात् अन्तर में ऐसी ध्यान की एकाग्रता प्रगट करता है कि अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करता है। अनन्त तीर्थङ्कर, इन्द्र, चक्रवर्ती इस चैतन्य की शरण को ही अङ्गीकार करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। इसलिए उसका भान करके उसका ही शरण लेने योग्य है। वह एक ही मृत्यु से बचने का और मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है।

अपूर्व सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी, आत्मा में लीन होकर चारित्रदशा प्रगट करना, वह मोक्ष का साक्षात् कारण है; इसलिए प्रवचनसार श्लोक १२ में आचार्य भगवान कहते हैं कि —

हे धर्मी जीवो! हे मोक्षार्थी जीवो! यदि आत्मा की शान्ति चाहिए हो और भव के चक्कर से छूटना हो तो शुद्धद्रव्य का आश्रय

www.vitragvani.com

करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो। चारित्र, द्रव्यानुसार होता है, अर्थात् जितना जोर करके द्रव्य में लीन हो, उतना चारित्र होता है। जितना द्रव्य का आश्रय करे, उतनी शान्ति प्रगट होती है; इसलिए पहले शुद्धद्रव्य को पहचानकर उसके ही आश्रय से लीनता करो। पहले शुद्धद्रव्य की पहचान तो होनी चाहिए। शुद्धद्रव्य पर जिसकी दृष्टि है, वही सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन, वह चारित्र का मूल है और चारित्र, वह मोक्ष का मूल है। चैतन्य-चिन्तामणिरूप शुद्ध आत्मा में दृष्टि और लीनता करके, उसकी जितनी भावना करे उतना फल प्रगट होता है... भगवान चैतन्य-चिन्तामणि अनादि-अनन्त परिपूर्ण है। उसकी भावना करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष हो जाता है।

यह देहादि का संयोग तो अनन्त बार आया और गया, यह कहीं आत्मा की चीज नहीं है; तथा पुण्य-पाप भी अनादि से किये परन्तु उनरूप आत्मा हो नहीं गया। यदि पुण्य के समय पुण्यरूप ही हो गया होता तो वह पलटकर वापस पाप कहाँ से आया? और पाप के समय यदि पापरूप ही हो गया होता तो वह पाप पलटकर वापस पुण्य कहाँ से आया? पुण्य-पाप दोनों का नाश होने पर भी, आत्मा ऐसा का ऐसा अखण्ड चैतन्यमूर्ति रहता है। ऐसे शुद्ध चैतन्यद्रव्य का आश्रय करने से चारित्र प्रगट होता है और जितनी वीतरागी चारित्रदशा प्रगट हुई, उसमें द्रव्य अभेदता पाता है। जितना अन्तर का आश्रय करे, उतना चारित्र प्रगट होता है और जितना चारित्र प्रगट हो, उतनी द्रव्य की शुद्धता प्रगट होती है। इसलिए हे मुमुक्षुओं! या तो शुद्धद्रव्य का आश्रय करके, अथवा तो वीतरागी चारित्र का आश्रय करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

www.vitragvani.com

जिन्होंने अपने चैतन्यतत्त्व को जाना है और अपने ज्ञान को चैतन्यतत्त्व की भावना में लीन किया है — ऐसे सन्त मुनिवर अन्तरस्वभाव के संयम में सावधान हैं और उनका वह वीतरागी संयम, दु:खमय ऐसे मरण के नाश का कारण है। घातनशील जो यम, उसका संयम नाश करता है, अर्थात् मुनिवरों का संयम, मरण को मार डालनेवाला है और जन्म-मरणरहित - ऐसी सिद्धदशा का कारण है। जिसे संयम प्रगट हुआ, उसके जन्म-मरण का नाश हो जाता है; इसलिए हे जीव! यदि तुझे शान्ति चाहिए हो, जन्म-मरण की यातना से छूटना हो तो ऐसी मुनिदशा प्रगट करना ही पड़ेगा। यति-मुनिवर अपने संयम में यत्नशील वर्तते हुए यातनामय यम का नाश करते हैं। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके चैतन्य की शरण से वीतरागी संयम प्रगट करते हैं, उन्हें फिर से दूसरी माता के गर्भ में अवतार नहीं होता, उन्हें दु:खमय मरण का नाश होकर मुक्ति हो जाती है। इसलिए —

हे जीवों! यदि मरण से बचना हो... और आत्मा की शान्ति चाहिए हो तो चैतन्य की शरण करो। ●

आराधना का उत्साह

सम्यक्त्वादि की आराधना की भावना करना, आराधना के प्रति उत्साह बढ़ाना, आराधक जीवों के प्रति बहुमान से प्रवर्तन करना - इत्यादि सर्व प्रकार के उद्यम द्वारा आत्मा को आराधना में जोड़ना, यह मुनियों का तथा श्रावकों का - सबका कर्तव्य है। आराधना को प्राप्त जीवों का दर्शन और सत्संग आराधना के प्रति उत्साह जागृत करता है।

www.vitragvani.com

त....त्त्व....च....र्चा

(बांकानेर, चेत्र शुक्ला ८ से १३ की रात्रि-चर्चा में से)

प्रश्न : एक समय में राग और वीतरागता दोनों भाव साथ में होते हैं ?

उत्तर : हाँ; साधक को आंशिक राग और आंशिक वीतरागता — ऐसे दोनों भाव एक साथ होते हैं। जैसे, सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ आंशिक शुद्धता प्रगट हुई और अभी साधक को अशुद्धता भी है; इस प्रकार आंशिक शुद्धता और आंशिक अशुद्धता — ऐसे दोनों भाव साधकदशा में एक साथ होते हैं परन्तु उसमें जो शुद्धता है, वह संवर-निर्जरा का कारण है और जो अशुद्धता है, वह आस्रव-बन्ध का कारण है; इसलिए साधक को आस्रव-बन्ध-संवर और निर्जरा — ऐसे चारों ही प्रकार एक साथ होते हैं।

अहो! यह तो अध्यात्मतत्त्व का अन्तरङ्ग विषय है। यह हिन्दुस्तान की मूल विद्या है।

प्रश्न : जब राग पर लक्ष्य हो, तब तो ज्ञानी को बहिर्मुखता ही है न ?

उत्तर : राग पर भले ही उपयोग का लक्ष्य हो परन्तु उस समय भी अन्दर साधक को रागरहित शुद्धपरिणति तो वर्तती ही है। उपयोग भले ही बाहर में हो, इससे कहीं जो शुद्धपरिणति प्रगट हुई है, उसका अभाव नहीं होता; जितनी शुद्धता है, उतनी अन्तर्मुख परिणति है।

प्रश्न : सम्यग्दर्शन प्राप्त करना ही है तो उसे क्या करना ?

उत्तर : राग और चैतन्य को भिन्न जानकर, चैतन्यस्वभाव में

www.vitragvani.com

अन्तर्मुख होना। पहले अन्तर में ज्ञान से निर्णय करे; पश्चात् अन्तर्मुख उपयोग द्वारा निर्विकल्प अनुभव होने पर सम्यग्दर्शन होता है परन्तु पहले उसकी योग्यता के लिये ही बहुत तैयारी चाहिए। देव-गुरु -शास्त्र कैसे होते हैं ? उन्हें पहचानकर उनका विनय-बहुमान हो और उनके द्वारा कथित तत्त्व को पहचाने, पश्चात् अन्तर्मुख होने पर सम्यक्त्व होता है।

प्रश्न : आत्मा ने यह हाथ ऊँचा किया - ऐसा दिखता है न ?

उत्तर : नहीं; ऐसा दिखता नहीं परन्तु स्वयं की मिथ्या कल्पना से ऐसा मानता है कि आत्मा ने हाथ ऊँचा किया। आत्मा तो कहीं इसे आँख से दिखता नहीं, शरीर को देखता है; शरीर का हाथ ऊँचा हुआ - ऐसा दिखता है परन्तु आत्मा ने वह ऊँचा किया - ऐसा तो कहीं दिखता नहीं। एक आत्मा अपने से भिन्न दूसरे पदार्थ का कुछ भी करे, यह बात मिथ्या है। इस मिथ्यात्व में विपरीत अभिप्राय का महापाप है; उसमें चैतन्य की विराधना है। यह मोटा दोष अज्ञानियों को ख्याल में नहीं आता। पाप-परिणाम करे और पैसा मिले — वहाँ कोई ऐसा माने कि पाप के कारण पैसा मिला तो यह बात जैसे मिथ्या है, उसी प्रकार हाथ ऊँचा होने पर आत्मा ने उसे ऊँचा किया - ऐसा मानना भी मिथ्या है।

प्रश्न : आत्मा कहाँ रहता है ?

उत्तर : आत्मा, आत्मा में रहता है; आत्मा, शरीर में नहीं रहा है। शरीर और आत्मा भले ही एक जगह हो परन्तु आत्मा की सत्ता शरीर से भिन्न है। आत्मा तो चैतन्य प्रकाशी है।

आत्मा स्वयं ही है परन्तु अज्ञान के कारण स्वयं अपनी सत्ता

www.vitragvani.com

को ही भूल गया है; इसलिए आत्मा तो मानो गुम हो गया! ऐसा लगता है। यदि अन्तरमंथन करे तो अपने में ही अपना पता लगे ऐसा है।

प्रश्न : भेदज्ञान करने के लिये सीधा और सरल उपाय क्या?

उत्तर : भिन्न लक्षण जानकर भिन्न जानना, (यही सीधा और सरल उपाय है)।

प्रश्न : यह किस प्रकार हो?

उत्तर : अन्दर विचार करना चाहिए कि अन्दर जाननेवाला तत्त्व है, वह मैं हूँ और विकल्प की वृत्ति का उत्थान है, वह मेरे चैतन्य से भिन्न है।

प्रश्न : मिथ्यात्व के अभाव के लिये शुभभाव और क्रिया की आवश्यकता नहीं लगती?

उत्तर : भाई! शुभभाव से या देह की क्रिया से मिथ्यात्व का नाश होता है – ऐसा जो मानता है, उसे तो मिथ्यात्व का पोषण होता है। मुझे शुभभाव से धर्म होगा और मैं देह की क्रिया कर सकता हूँ — ऐसा माने तो उसमें मिथ्यात्व का पोषण होता है।

प्रश्न : तो फिर सम्यक्त्व का मार्ग क्या?

उत्तर : इस राग से पर चैतन्य को जानना, वह सम्यक्त्व का मार्ग है। इसके बिना शुभभाव तो अनन्त बार किये। भाई! समझ का घर गहरा है। उसके लिये सत्समागम का बहुत अभ्यास चाहिए, बहुत पात्रता और बहुत जिज्ञासा चाहिए।

प्रश्न : आत्मा को जानने से क्या होता है?

www.vitragvani.com

उत्तर : अन्तर में उपयोग लगाकर आत्मा को जानने से अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे, ऐसा अपूर्व स्वाद आवे कि पूर्व में कभी आया नहीं था परन्तु वह कहीं बातें करने से हो - ऐसा नहीं है, उसके लिये तो अन्तर का कोई अपूर्व पुरुषार्थ चाहिए।

प्रश्न : वांचन-श्रवण बहुत करने पर भी अनुभव क्यों नहीं होता?

उत्तर : अन्दर में वैसा यथार्थ कारण नहीं देता इसलिए; यदि यथार्थ कारण दे तो कार्य हो ही। अन्तर की धगश से विचारणा जगे और स्वभाव की ओर का प्रयत्न करे तो आत्मा का कार्य न हो - ऐसा नहीं हो सकता। प्रयत्न करे राग का, और कार्य चाहे स्वभाव का - यह कहाँ से आये? स्वभाव की ओर का प्रयत्न करे तो स्वभाव का कार्य (सम्यग्दर्शन) अवश्य प्रगट हो। इसके लिए अन्दर का गहरा प्रयत्न चाहिए।

प्रश्न : संसार अर्थात् क्या?

उत्तर : अपना जो शुद्धस्वरूप है, उससे संसरणा, अर्थात् च्युत होकर अशुद्धरूप परिणमित होना, वह संसार है, अर्थात् राग-द्वेष -अज्ञान इत्यादि मलिनभाव, वह संसार है।

प्रश्न : संसार कहाँ है?

उत्तर : जीव का मोक्ष और संसार दोनों जीव में ही है; जीव से बाहर नहीं। जीव की अशुद्धता ही जीव का संसार है, बाहर के संयोग में जीव का संसार नहीं है; इसी प्रकार जीव की शुद्धतारूप मोक्ष भी जीव में ही है और उस मोक्ष का उपाय भी जीव में ही है।

प्रश्न : संसार कौन सा भाव है?

www.vitragvani.com

उत्तर : संसार उदयभाव है।

प्रश्न : धर्म अर्थात् क्या ?

उत्तर : धर्म अर्थात् आत्मा की शुद्धता। आत्मा क्या चीज है — उसके स्वभाव का भान करके, उसमें एकाग्रता द्वारा जो राग-द्वेषरहित शुद्धता प्रगट होती है, वह धर्म है।

प्रश्न : सामायिक की आवश्यकता है या नहीं ?

उत्तर : एक समय की सामायिक, आत्मा में मुक्ति की झंकार देती है। सामायिक पाँचवें गुणस्थान में होती है और उसके पहले चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्व के बिना, अर्थात् आत्मा के भान बिना सच्ची सामायिक नहीं होती है। देह की क्रिया को या शुभराग को सामायिक माने अथवा उनसे धर्म माने तो उसे सामायिक का पता नहीं है। स्वरूप का ध्यान करके उसमें एकाग्र रहने से राग-द्वेषरहित समभाव और अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन प्रगट हो, उसका नाम सामायिक है।

प्रश्न : ऐसी सामायिक न हो, तब तक तो शुभभाव करना न ?

उत्तर : भाई ! राग तो अनादि से करता ही आया है। यह तो जिसे धर्म करना है, उसके लिये बात है। धर्म के लिये सत् विचारों को अन्तर में लगाना चाहिए। पहले सम्यक् भूमिका तो निश्चित करो। ऐसा मनुष्य अवतार मिला, उसमें जन्म-मरण के चक्कर मिटें, ऐसी अपूर्व चीज क्या है ? वह समझना चाहिए। पश्चात् समझ के प्रयत्न की भूमिका में भी ऊँची जाति का शुभभाव तो होता है परन्तु उस राग से चैतन्य की भिन्नता जब तक भासित न हो, तब तक धर्म की शुरुआत नहीं होती; शुभभाव की बात तो

www.vitragvani.com

अनादि से सुनता और आदर करता आया है परन्तु यह चिदानन्द तत्त्व राग से पार है, इसकी बात अपूर्व है।

आत्मा की यह बात अपूर्व है, पात्र होकर जिज्ञासा करे, उसे समझ में आने योग्य है। जिसे प्यास लगी हो, जिसे आत्मा की भूख जागृत हुई हो, उसे यह बात पचे - ऐसी है।

प्रश्न : भेदज्ञान न हुआ हो परन्तु उसका प्रयत्न करता हो तो उसके परिणाम कैसे होते हैं ?

उत्तर : उसके परिणाम में सत्समागम और सत् विचार का घोलन होता है। आत्मा क्या है, सत् क्या है, ज्ञानी कैसे होते हैं - ऐसे प्रकार के तत्त्व के सद् विचार होते हैं; परिणाम में पर की प्रीति का रस अत्यन्त मन्द हो जाता है, सच्चे देव-गुरु का बहुमान जागृत होता है, कुदेव-कुगुरु की ओर का झुकाव छूट जाता है, स्वसन्मुख झुकने जैसा है - ऐसा निर्णय करके बारम्बार उसका अन्तर उद्यम करता है, उसे तीव्र अनीति के या माँसाहार आदि के कलुषित परिणाम छूट ही गये होते हैं, अन्दर में यथार्थ तत्त्व का बारम्बार घोलन करता है — ऐसा जीव अन्तर्मुख होने के बारम्बार के अभ्यास द्वारा भेदज्ञान प्रगट करता है।

प्रश्न : यह आत्मा सर्वज्ञ भगवान जैसा है — वह किस प्रकार ?

उत्तर : जैसे सर्वज्ञ भगवान हैं, वैसा मेरा आत्मा है — ऐसा जहाँ निर्णय करने जाये, वहाँ अपनी पर्याय में तो सर्वज्ञपना नहीं, सर्वज्ञपना तो शक्तिस्वभाव में है; इसलिए पर्याय के सन्मुख देखने से सर्वज्ञ जैसा आत्मा नहीं पहचाना जाता परन्तु स्वभावसन्मुख

www.vitragvani.com

होकर ही सर्वज्ञ जैसे आत्मा की पहचान होती है और इस प्रकार स्वसन्मुख हो, तभी सर्वज्ञ की वास्तविक पहचान होती है।

प्रश्न : आत्मा किसे कहना ?

उत्तर : जिसे आत्मा सम्बन्धी शङ्का उठती है, वह स्वयं आत्मा ही है। शङ्का उठती है, वह आत्मा के अस्तित्व में उठती है। आत्मा न हो तो शङ्का कौन करे ? इसलिए जो शङ्का करता है और जो जाननेवाला तत्त्व है, वह आत्मा है। शङ्का कहीं इस जड़ शरीर में नहीं है; शङ्का करनेवाला जो तत्त्व है, वह चैतन्य है, वही आत्मा है।

प्रश्न : अभी मोक्ष होता है ?

उत्तर : महाविदेहक्षेत्र में अभी भी जीव, मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस क्षेत्र में अभी पुरुषार्थ की न्यूनता के कारण मोक्ष भले न हो परन्तु अन्तर में आत्मा के सम्यक् अनुभव से ऐसा निर्णय हो सकता है कि अब अल्प काल में ही आत्मा सम्पूर्ण मुक्त होगा। सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्ष का मार्ग इस काल में हो सकता है, उसके लिये अन्तर में बहुत श्रवण-मंथन और स्वभाव की ओर का अभ्यास चाहिए।

प्रश्न : अनादि के मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यक्त्व किस गति में होता है ?

उत्तर : चारों ही गतियों में हो सकता है; उसमें प्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है। जीव सातवें नरक में भी सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ मनुष्यगति में ही होता है।

प्रश्न : आध्यात्मिक ज्ञान किसे कहा जाता है ?

उत्तर : आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान हो, उसे आध्यात्मिक

www.vitragvani.com

ज्ञान कहा जाता है। उसके संस्कार दूसरे भव में भी आत्मा के साथ ही रहते हैं।

प्रश्न : निर्विकल्पदशा के समय जो अन्तर्मुख ज्ञान-उपयोग है उस ज्ञान का ज्ञेय, ज्ञान है या आनन्द ?

उत्तर : उस अन्तर्मुख उपयोग का ज्ञेय पूरा आत्मा है; ज्ञान और आनन्द सब उसमें अभेद आ जाता है; उस ज्ञान में आनन्द का वेदन व्यक्त है।

प्रश्न : आप पूर्व जन्म को मानते हो ? पूर्व जन्म किस प्रकार अनुभव किया जा सकता है ?

उत्तर : हाँ; आत्मा अनादि-अनन्त है, इसलिए इससे पहले दूसरे भव में कहीं उसका अस्तित्व था। आत्मा कहाँ था ? यह भले ही कदाचित् न जाने परन्तु इतना निर्णय तो होता ही है कि इससे पहले आत्मा का अस्तित्व कहीं था ही। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जातिस्मरणज्ञान हो तो ही आत्मज्ञान हो। किसी को जातिस्मरण -ज्ञान न होने पर भी आत्मज्ञान होता है; किसी को जातिस्मरण -ज्ञान हो, तथापि आत्मज्ञान नहीं भी होता। किसी को दोनों साथ वर्तते हैं। ●

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन के लिये प्राप्त सुनहरा अवसर

मोह के क्षय का अमोघ उपाय

श्रावण कृष्ण दूज के प्रवचन में पूज्य गुरुदेव ने मोह क्षय का अपूर्व मार्ग दर्शाया... अहा! उल्लासपूर्वक जिस उपाय का श्रवण करने से मोहबन्धन शिथिल पड़ जाता है... और जिसका गहन अन्तर्मन्थन करने से क्षणमात्र में मोह का क्षय हो जाता है - ऐसा मोहक्षय का अमोघ उपाय सन्तों ने दर्शाया है। जगत् में अत्यन्त विरल और महादुर्लभ सम्यक्त्व प्राप्ति का मार्ग इस काल में सन्तों के प्रताप से सुगम बना है... यह वास्तव में मुमुक्षु जीवों का कोई महान् सद्भाग्य है। ऐसा अलभ्य अवसर प्राप्त करके, सन्तों की छाया में अन्य सब भूलकर अपने को, अपने आत्महित के प्रयत्न में कटिबद्ध होना चाहिए।

स्वभाव की सन्मुखतापूर्वक स्वरूप में लीन होकर, मोह का क्षय करके जो सर्वज्ञ अरहन्त परमात्मा हुए, उनके द्वारा उपदिष्ट मोह के क्षय का उपाय क्या है? वह यहाँ आचार्यदेव बताते हैं। उन्होंने प्रवचनसार गाथा 80 में यह बताया कि भगवान अरहन्तदेव का आत्मा, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से शुद्ध है। उनके शुद्ध द्रव्य -गुण-पर्याय को पहचानकर, अपनी आत्मा के साथ उनका मिलान करने से, ज्ञान और राग का भेदज्ञान होकर, स्वभाव और परभाव की भिन्नता होकर, ज्ञान का उपयोग अन्तर -स्वभावसन्मुख होता है। वहाँ एकाग्र होने पर गुण-पर्याय के भेद का आश्रय भी छूट जाता है और गुणभेद का विकल्प भी छूटकर

www.vitragvani.com

पर्याय, शुद्धात्मा में अन्तर्लीन होती है। पर्याय अन्तर्लीन होने से मोह का क्षय होता है।

इस प्रकार भगवान अरहन्त के ज्ञान द्वारा, मोह के क्षय का उपाय बतलाया। अब, इसी बात को दूसरे प्रकार से बतलाते हैं, उसमें शास्त्र के ज्ञान द्वारा मोह के अभाव की विधि बतलाते हैं। प्रथम तो जिसने प्रथम भूमिका में गमन किया है – ऐसे जीव की बात है। सर्वज्ञ भगवान कैसे होते हैं ? मेरा आत्मा कैसा है ? मुझे आत्मा का स्वरूप समझकर अपना हित करना है – जिसे ऐसा लक्ष्य होता है, वह जीव, मोह के नाश के लिए शास्त्र का अभ्यास किस प्रकार करता है ? – वह यहाँ बतलाते हैं। वह जीव, सर्वज्ञोपज्ञ द्रव्यश्रुत को प्राप्त करके, अर्थात् भगवान द्वारा कथित सच्चे आगम कैसे होते हैं ? – यह निर्णय करके, फिर उसी में क्रीड़ा करता है, अर्थात् आगम में भगवान ने क्या कहा है ? इस बात का निर्णय करने के लिए सतत् अन्तर-मन्थन करता है। द्रव्यश्रुत का वाच्यरूप शुद्धात्मा कैसा है ? – इसका चिन्तन-मनन करना ही द्रव्यश्रुत में क्रीड़ा है।

द्रव्यश्रुत के रहस्य के गहन विचार में उतरने पर मुमुक्षु को यह लगता है कि अहा ! इसमें ऐसी गम्भीरता है। **राजा पैर धोता हो, तब जो आनन्द आता है, हर्ष का अनुभव होहता है,** उससे भी श्रुत के गहन रहस्यों के समाधान होने पर आनेवाला आनन्द तो जगत् से अलग जाति का है। श्रुत के रहस्यों के चिन्तन का रस बढ़ने पर, जगत् के विषयों का रस उड़ जाता है। अहो ! श्रुतज्ञान के अर्थ के चिन्तन द्वारा मोहग्रन्थी टूट जाती है।

जहाँ श्रुत का रहस्य ख्याल में आया कि अहो ! यह तो

www.vitragvani.com

चिदानन्दस्वभाव में सन्मुखता कराता है। वाह! भगवान की वाणी! वाह, दिगम्बर सन्त! वे तो मानो ऊपर से सिद्ध भगवान उतरे हों!! अहा! भावलिङ्गी दिगम्बर सन्त-मुनि तो अपने परमेश्वर हैं, वे तो भगवान हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, पूज्यपादस्वामी, धरसेनस्वामी, वीरसेनस्वामी, जिनसेनस्वामी, नेमिचन्द्र सिद्धान्त -चक्रवर्ती, समन्तभद्रस्वामी, अमृतचन्द्रस्वामी, पद्मप्रभमलधारिदेव, अकलङ्कस्वामी, विद्यानन्दिस्वामी, उमास्वामी, कार्तिकेयस्वामी -इन सभी सन्तों ने अलौकिक काम किया है।

अहा! सर्वज्ञ की वाणी और सन्तों की वाणी, चैतन्यशक्ति के रहस्य खोलकर आत्मस्वभाव की सन्मुखता कराती है - ऐसी वाणी को पहचान कर, उसमें क्रीड़ा करने से, उसका चिन्तन -मनन करने से ज्ञान के विशिष्ट संस्कार द्वारा आनन्द का प्रस्फुटन होता है, आनन्द का फब्बारा फुटता है, आनन्द का झरना झरता है। देखो, यह श्रुतज्ञान की क्रीड़ा का लोकोत्तर आनन्द! अभी जिसे श्रुत का भी निर्णय न हो, वह किसमें क्रीड़ा करेगा? यहाँ तो जिसने प्राथमिक भूमिका में गमन किया है, अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं? - उसकी कुछ पहचान की है, वह जीव किस प्रकार आगे बढ़कर मोह का क्षय करता है और सम्यक्त्व प्रगट करता है? - उसकी बात है।

भगवान ने द्रव्यश्रुत में ऐसी बात की है कि जिसके अभ्यास से आनन्द का फब्बारा फूटे। भगवान आत्मा में आनन्द का सरोवर भरा है, उसकी सन्मुखता के अभ्यास से एकाग्रता द्वारा आनन्द का फब्बारा फूटता है। चैतन्य-सरोवर में से अनुभूति में आनन्द का झरना बहता है।

www.vitragvani.com

आचार्यदेव ने कहा है कि हे भव्य! तू हमारे निज-वैभव के स्वानुभव की इस बात को, अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण करना। एकत्वस्वभाव का अभ्यास करने से अन्तर में स्वसन्मुख स्वसंवेदन जागृत हुआ, तब वह जीव, द्रव्यश्रुत के रहस्य को प्राप्त हुआ। जहाँ ऐसा रहस्य प्राप्त हुआ, वहाँ अन्तर की अनुभूति में आनन्द के झरने, झरने लगे... शास्त्र के अभ्यास से, उसके संस्कार से, विशिष्ट स्वसंवेदन शक्तिरूप सम्पदा प्रगट करके, आनन्द के फुब्बारेसहित प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से यथार्थ वस्तुस्वरूप जानने पर, मोह का क्षय होता है। अहो! मोह के नाश का अमोघ उपाय कभी निष्फल नहीं जाता - ऐसा अफर उपाय सन्तों ने प्रसिद्ध किया है।

विकल्परहित ज्ञान का वेदन कैसा है? उसका अन्तर्लक्ष्य करना, वह भावश्रुत का लक्ष्य है। राग की अपेक्षा छोड़कर, स्व का लक्ष्य करने को भावश्रुत कहते हैं और उस भावश्रुत में आनन्द के फब्बारे हैं। प्रत्यक्षसहित परोक्षप्रमाण हो तो वह भी आत्मा को यथार्थ जानता है। प्रत्यक्ष की अपेक्षारहित अकेला परोक्षज्ञान तो परावलम्बी है; वह आत्मा का यथार्थ संवेदन नहीं कर सकता। आत्मा के सन्मुख झुककर प्रत्यक्ष हुआ ज्ञान और उसके साथ अविरुद्ध — ऐसा परोक्षप्रमाण, उससे आत्मा को जानने पर अन्दर से आनन्द का झरना बहता है। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का और मोह के नाश का अमोघ उपाय है।

अरहन्त भगवान के आत्मा को जानकर, वैसा ही अपने आत्मा का स्वरूप पहचानने से ज्ञानपर्याय अन्तर्लीन होकर सम्यग्दर्शन होता है और मोह का क्षय होता है... तत्पश्चात् उसी में लीन होने से पूर्ण शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है और सम्पूर्ण मोह का

www.vitragvani.com

नाश होता है। समस्त तीर्थङ्कर भगवन्त और मुनिवर इसी एक उपाय से मोह का अभाव करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं... और वाणी द्वारा जगत् को भी इस एक ही मार्ग का उपदेश दिया है। यह एक ही मार्ग है; दूसरा मार्ग नहीं है - ऐसा पहले कहा था।

श्री प्रवचनसार की 86 वीं गाथा में कहा है कि सम्यक् प्रकार से श्रुत के अभ्यास से, उसमें क्रीड़ा करने पर, उसके संस्कार से विशिष्ट ज्ञान-संवेदन की शक्तिरूप सम्प्रदा प्रगट करने से, आनन्द के उद्भवसहित भावश्रुतज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूप जानने से, मोह का नाश होता है। इस प्रकार भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ परिणाम से द्रव्यश्रुत का सम्यक् अभ्यास, वह मोहक्षय का उपाय है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि पूर्व कथित उपाय और यहाँ कहा गया उपाय अलग-अलग प्रकार के हैं। वस्तुत: वे अलग-अलग दो उपाय नहीं हैं, एक ही प्रकार का उपाय है; उसे मात्र अलग -अलग शैली से समझाया है।

अरहन्तदेव का स्वरूप पहचानने में आगम का अभ्यास आ ही जाता है क्योंकि आगम के बिना अरहन्त का स्वरूप कहाँ से जाना? और सम्यक् द्रव्यश्रुत का अभ्यास करने में भी सर्वज्ञ की पहचान साथ ही आती है क्योंकि आगम के मूल प्रणेता तो सर्वज्ञ अरहन्तदेव हैं, उनकी पहचान के बिना आगम की पहचान नहीं होती।

अब, इस प्रकार अरहन्त की पहचान द्वारा अथवा आगम के सम्यक् अभ्यास द्वारा जब स्वसन्मुखज्ञान से आत्मा के स्वरूप का निर्णय करे, तब ही मोह का नाश होता है। इसलिए दोनों शैलियों में मोह के नाश का मूल उपाय तो यही है कि शुद्धचेतना से व्याप्त

www.vitragvani.com

ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप शुद्ध आत्मा में स्वसन्मुख होना।

देखो, यहाँ अकेले शास्त्र अभ्यास की बात नहीं की है परन्तु भावश्रुत के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये हुए परिणाम से, सम्यक् प्रकार से अभ्यास करने की बात कही है। भावश्रुत तभी होता है कि जब द्रव्यश्रुत के वाच्यरूप शुद्ध आत्मा की ओर ज्ञान का झुकाव होता है। इस प्रकार के दृढ़ अभ्यास से अवश्य सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

— ऐसे सम्यक्त्व साधक सन्तों को नमस्कार हो! ●

उसका जन्म सफल है

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः।
संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ॥

(नियमसार कलश १३)

काय विकार को छोड़कर जो बारम्बार शुद्धात्मा की सम्भावना (सम्यक्भावना) करता है, उसका ही जन्म, संसार में सफल है।

पहले तो काया से भिन्न चिदानन्दस्वरूप का भान किया है, तदुपरान्त काया से उपेक्षित होकर बारम्बार अन्तर में शुद्धात्मा के सन्मुख होकर उसकी भावना भाता है, उस धर्मात्मा का अवतार सफल है, उसने जन्मकर आत्मा में मोक्ष की ध्वनि प्रगटायी, आत्मा में मोक्ष की झंकार प्रगट की... इसलिए उसका जन्म सफल है। अज्ञानरूप से तो अनन्त अवतार किये, वे सब निष्फल गये, उनमें आत्मा का कुछ हित नहीं हुआ। चिदानन्दस्वरूप का भान करके जिस अवतार में आत्मा का हित हुआ, वह अवतार सफल है।

www.vitragvani.com

आत्मा को साधने की विधि

मुमुक्षु का मङ्गल अभिप्राय

दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मा की आराधना से ही (आत्मा की) सिद्धि होती है, इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से सिद्धि नहीं होती; इसलिए दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आत्मा की उपासना करना, यह मोक्षार्थी जीव का प्रयोजन है। चैतन्य की प्राप्ति करना ही जिसका मङ्गल अभिप्राय है - ऐसा मोक्षार्थी जीव, मुक्ति के लिए प्रथम तो ज्ञानस्वरूप आत्मा की पहचान करके उसकी श्रद्धा करता है। यह चेतनस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ और इसके सेवन से पूर्ण सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी - ऐसी नि:शङ्क श्रद्धापूर्वक उसमें लीनता हो सकती है।

जो शिष्य, मोक्ष की झङ्कार बजाता हुआ आया है, वह मङ्गल अभिप्रायवाला शिष्य सर्व प्रकार से प्रयत्नपूर्वक आत्मा को जानता है, श्रद्धा करता है और फिर उसमें स्थिरता का उद्यम करता है; उसे छूटने की बात ही रुचिकर लगती है। श्रवण में, मनन में, शास्त्र-पठन में सर्वत्र वह छूटकारे की बात ही खोजता है।

पहली बात तो यह है कि आत्मा को जानना चाहिए। जहाँ वास्तविक ज्ञान किया, वहाँ 'ऐसा आत्मा मैं' - ऐसी नि:शङ्क श्रद्धा भी हुई। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करनेवाले को राग का अभिप्राय नहीं है, संसार का अभिप्राय नहीं है; एकमात्र चैतन्य की प्राप्ति का ही मङ्गल अभिप्राय है, बन्धन से छूटने का ही अभिप्राय है।

जिस प्रकार धन की प्राप्ति का अभिलाषी, राजा को पहचान

www.vitragvani.com

कर, उसकी श्रद्धा करके, महा-उद्यमपूर्वक उसकी सेवा करके उसे रिझाता है। विनय से, भक्ति से, ज्ञान से, सर्व प्रकार से सेवा करके, राजा को रिझाकर प्रसन्न करता है; इसी प्रकार मोक्षार्थी जीव, अन्तर्मुख प्रयत्न से प्रथम तो आत्मा को जानता है और श्रद्धा करता है। ज्ञान द्वारा जो आत्मा की अनुभूति हुई, वह अनुभूति ही मैं हूँ - ऐसे आत्मज्ञानपूर्वक प्रतीति करता है और तत्पश्चात् आत्मस्वरूप में ही लीन होकर आत्मा को साधता है - यह आत्मा को साधने की विधि है।

आबाल-गोपाल, अर्थात् बालक से लेकर वृद्ध तक सबको यह आत्मा ज्ञानस्वरूप ही अनुभव में आता होने पर भी, भेदज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानी जीव उसे राग के साथ एकमेक अनुभव करता है। आत्मा को रागमय मानकर, रागवाला ही अनुभव करता है; इस कारण उसे आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन अथवा चारित्र उदयगत नहीं होते। इस प्रकार उसे आत्मा की सिद्धि नहीं होती।

ज्ञानी धर्मात्मा, सम्यक् अभिप्राय से आत्मा को राग से भिन्न अनुभव करते हैं। ऐसे अनुभव के बिना किसी प्रकार आत्मा की सिद्धि नहीं होती; इसलिए पहले अन्तर्मुख पुरुषार्थ द्वारा आत्मा को सम्यक् प्रकार से जानकर, उसका श्रद्धान और अनुभव करना - ऐसा भगवान सन्तों का मङ्गल आशय है। ज्ञानस्वभाव की सेवा, उपासना, आराधना करने का ही सन्तों का उपदेश है। जब पर्याय को अन्तर्मुख करके ज्ञानस्वभाव के साथ एकाकार करे और राग से पृथक् होकर ज्ञान का अनुभव करे, तब ज्ञान की उपासना की गयी कहलाती है।

आत्मा ज्ञानस्वरूपी होने पर भी, ज्ञान की ऐसी उपासना उसने

www.vitragvani.com

पूर्व में एक क्षण के लिए भी नहीं की है। राग में तन्मय होकर अज्ञान का ही सेवन किया है, अनात्मा की ही सेवा की है। ज्ञान की सेवा तो तब होती कि जब अन्तर में राग से पृथक् पड़कर ज्ञानस्वभाव को पहचानकर श्रद्धा और अनुभव में ले।

मुमुक्षु का मङ्गल अभिप्राय और मङ्गल कामना यह है कि राग से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा का सदा सेवन करना, अर्थात् निरन्तर -सतत् अनुभव करना - यही सिद्धि का पन्थ है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम आत्मा को निरन्तर चैतन्यस्वरूप अनुभव कर रहे हैं और दूसरे जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे भी निरन्तर उसका अनुभव करते हैं।

हे मुमुक्षु जीवों! तुम भी आत्मा को सर्व प्रयत्न से जानकर, श्रद्धा में लेकर, उसका अनुभव करो। ●

सम्यक्त्व के लिये किसकी शरण ?

सम्यक्त्वसन्मुख जीव को अभी अपने भूतार्थस्वभाव के आश्रय से निर्विकल्प वेदन प्रगट नहीं हुआ वहाँ, अहो! यह मेरा आत्मा एकाकार ज्ञायकस्वरूप हूँ, ऐसे बहुमान का विकल्प उसे उठता है परन्तु उस विकल्प की शरण नहीं; शरण तो भूतार्थस्वभाव की ही है और उसकी शरण से ही सम्यग्दर्शन होता है। यदि विकल्प को शरणरूप माने तो उसके अवलम्बन से हटकर, भूतार्थस्वभाव में कैसे आयेगा? और उसे सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा... इसलिए विकल्प की शरण नहीं... स्वभाव की ही शरण है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी ज्ञानी को विकल्प आता है परन्तु ज्ञानी उसकी शरण नहीं लेते हैं।

www.vitragvani.com

आत्मा की धगश

जिसे आत्मा की वास्तविक धगश जगती है, उस जीव की दशा कैसी होती है ? यह समझाते हुए एक बार गुरुदेव ने कहा था कि :

आत्मार्थी को सम्यग्दर्शन के पहले स्वभाव समझने के लिये इतना तीव्र रस होता है कि ज्ञानी के पास से स्वभाव सुनते ही वह ग्रहण होकर अन्तर में उतर जाये... आत्मा में परिणम जाये। अहो! मेरा ऐसा स्वभाव, गुरु ने बतलाया!! इस प्रकार गुरु का उपदेश ठेठ आत्मा में स्पर्श कर जाता है।

जिस प्रकार कोरे घड़े पर पानी की बूँद पड़ते ही वह चूस लेता है अथवा तमतमाते लोहे पर पानी की बूँद पड़ते ही वह चूस लेता है; इसी प्रकार जिसे तीव्र आत्मजिज्ञासा जगी है... और जो दु:ख से अति संतप्त है — ऐसे आत्मार्थी जीव को श्रीगुरु से आत्मशान्ति का उपदेश मिलते ही वह उसे चूस लेता है, अर्थात् तुरन्त ही उस उपदेश को अपने आत्मा में परिणमा देता है।

आत्मार्थी को स्वभाव की जिज्ञासा और झनझनाहट ऐसी उग्र होती है कि 'स्वभाव' सुनते हुए तो हृदय में चीरकर उतर जाये... अरे! स्वभाव कहकर ज्ञानी क्या बतलाना चाहते हैं ? इसी का मुझे ग्रहण करना है - इस प्रकार रोम-रोम में स्वभाव के प्रति उत्साह जगे और परिणति का वेग स्व-सन्मुख ढले, ऐसा पुरुषार्थ उत्पन्न करे कि स्वभाव प्राप्त करके ही रहे, स्वभाव की प्राप्ति न हो, तब तक उसे चैन नहीं पड़े।

— ऐसी दशा हो, तब आत्मा की वास्तविक धगश कहलाती

www.vitragvani.com

है और ऐसी दशावाला जीव, अन्तर-परिणति में आत्मा को प्राप्त करके ही रहता है। जब तक ऐसा अन्तरपरिणमन न हो, तब तक अपने आत्मार्थ की कचास समझकर अत्यन्त अन्तर्शोध करके आत्मार्थ की उग्रता करता है। ●

मुमुक्षु की विचारणा...

हे जीव! तुझे अन्तर में ऐसा लगना चाहिए कि आत्मा को पहचाने बिना छुटकारा नहीं है, यदि इस अवसर में मैं अपने आत्मा का अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करूँ तो मेरा कहीं छुटकारा नहीं है। अरे जीव! वस्तु के भान बिना तू कहाँ जायेगा? तुझे सुख-शान्ति कहाँ से मिलेगी? तेरी सुख-शान्ति तेरी वस्तु में से आयेगी या बाहर में से? तू चाहे जिस क्षेत्र में जा, परन्तु तू तो तुझमें ही रहनेवाला है। और परवस्तु, परवस्तु में ही रहनेवाली है। पर में से कहीं से तेरा सुख आनेवाला नहीं है, स्वर्ग में जायेगा तो वहाँ से भी तुझे सुख नहीं मिलनेवाला है; सुख तो तुझे तेरे स्वरूप में से ही मिलनेवाला है... इसलिए स्वरूप को जान। तेरा स्वरूप तुझसे किसी काल में पृथक् नहीं है; मात्र तेरे भान के अभाव से ही तू दुःखी हो रहा है, वह दुःख दूर करने के लिये तीन काल के ज्ञानी एक ही उपाय बतलाते हैं कि 'आत्मा को पहचानो'।

इस प्रकार अन्तर विचारणा द्वारा मुमुक्षु जीव अपने में सम्यग्दर्शन की लगनी लगाकर अपने आत्मा को उसके उद्यम में जोड़ता है।

www.vitragvani.com

अनुभव के लिये

शिष्य की मङ्गल उमङ्ग

अनुभव के लिये मङ्गल उमङ्ग से शिष्य प्रश्न करता है - भगवान! पक्षातिक्रान्त का क्या स्वरूप है? पक्षातिक्रान्त जीव कैसा होता है? उसकी अनुभूति कैसी होती है? देखो, निर्विकल्प आनन्द के अनुभव के लिये शिष्य को मङ्गल उमङ्ग उठी है... ऐसे अनुभव की उमङ्गपूर्वक प्रश्न उठा है, वह प्रश्न भी मङ्गल है... गुरु के प्रति अत्यन्त आस्था है और अनुभव की उत्कण्ठा है... अनुभव के किनारे आकर गुरु को पूछता है कि प्रभु! निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप क्या है और अनुभव की विधि क्या है? पक्षातिक्रान्त होने के लिये किनारे पर खड़ा है-ऐसे शिष्य का हृदय भी मङ्गल है और वह ऐसे अनुभव के लिये मङ्गल प्रश्न पूछता है। उसके उत्तर में आचार्यदेव, (समयसार) १४३ गाथा में निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप बतलाते हैं।

नयद्वयकथन जाने हि केवल समय में प्रतिबद्ध जो।
नयपक्ष कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपक्ष से परिहीन वो॥१४३॥

देखो, यह महा उत्तम गाथा है। सम्यक्श्रुतज्ञानी को अनुभव के समय केवली भगवान के साथ रखा है। चौथे गुणस्थान के धर्मात्मा भी अनुभव के काल में केवली भगवान जैसे पक्षातिक्रान्त हैं। जैसे केवली भगवान कोई विकल्प नहीं करते; उसी प्रकार श्रुतज्ञानी धर्मात्मा भी किसी विकल्प को उपयोग के साथ एकमेक नहीं करते।

आहा! ऐसी अनुभूति में कैसा आनन्द का रस आता है, उसे

www.vitragvani.com

धर्मी ही जानता है! धर्मात्मा, अनुभूति में चिदानन्दतत्त्व को ही ग्रहण करते हैं; विकल्पमात्र को ग्रहण नहीं करते, केवल जानते ही हैं। 'विकल्प को जानते हैं' – ऐसा कहा, परन्तु अनुभव के काल में कहीं विकल्प की ओर उपयोग नहीं है; उपयोग को विकल्प से भिन्न ही अनुभवते हैं, उस उपयोग के साथ विकल्प को किञ्चित् भी एकमेक नहीं करते, इसलिए ऐसा कहा कि विकल्प को जानते हैं परन्तु ग्रहण नहीं करते।

चैतन्य की शान्ति का स्वाद जिसमें न आवे, उससे क्या प्रयोजन है? पर से तो आत्मा के प्रयोजन की कुछ सिद्धि नहीं होती, बाहर के राग से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, और अन्दर 'मैं शुद्ध हूँ' — इत्यादि विकल्पों द्वारा भी चैतन्य के अनुभव का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। धर्मात्मा समस्त विकल्पों के पक्ष को उल्लंघकर चैतन्य का अनुभव करता है – उसका यह वर्णन है।

जिस प्रकार भगवान केवलज्ञानी परमात्मा, केवलज्ञान के द्वारा समस्त नय पक्षों को मात्र जानते ही हैं परन्तु अपने में उन नय पक्ष के विकल्पों को किञ्चित् भी ग्रहण नहीं करते, उसी प्रकार श्रुतज्ञानी को स्वसन्मुखता में स्वभाव के ही ग्रहण का उत्साह है और विकल्प के ग्रहण का उत्साह छूट गया है; केवली भगवान तो श्रुतज्ञान की भूमिका को ही उल्लंघ गये हैं; इसलिए उन्हें विकल्प का अवकाश ही नहीं है और श्रुतज्ञानी को यद्यपि श्रुतज्ञान की भूमिका है, तथापि उस भूमिका में उत्पन्न विकल्प के ग्रहण का उत्साह छूट गया है। ज्ञान, विकल्प के आश्रय से छूटकर स्वभाव के आश्रय में झुका है। भगवान सर्वज्ञदेव सदा ही विज्ञानघन हुए हैं और श्रुतज्ञानी भी अनुभव के काल में विज्ञानघन हैं; इसलिए वे भी

www.vitragvani.com

पक्षातिक्रान्त हैं। श्रुतज्ञानी की ऐसी आत्मदशा होती है, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

भाई! निमित्त के आश्रय से लाभ हो, यह बात तो कहीं रह गयी! परन्तु शान्तरस के पिण्ड चैतन्य को अन्दर के शुद्धनय के विकल्प के आश्रय से भी किञ्चित् लाभ नहीं है। साक्षात् चैतन्य को अनुभव करने का मार्ग अन्तर में कोई अलग है, चैतन्यस्वरूप में आरूढ़ होकर शान्तरस के वेदन की दशा में किसी विकल्प का पक्ष नहीं रहता, उसका नाम पक्षातिक्रान्त समयसार है; यही निर्विकल्प प्रतीतिरूप से परिणमित परम-आत्मा है, यही ज्ञानभाव से परिणमित हुआ होने से ज्ञानात्मा है, यही विकल्प से भिन्न चैतन्य ज्योतिरूप है, इसके अनुभव में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि है; विकल्प में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं थी, उसमें तो आकुलता थी और अन्तर के निर्विकल्प अनुभव में आत्मा की प्रसिद्धि हुई है। ऐसी अनुभूतिस्वरूप शुद्ध आत्मा है, वही समयसार है।

अहो! पहले चैतन्य के अनुभव की यह विधि भलीभाँति लक्ष्य में लेकर दृढ़ निर्णय करना चाहिए। मार्ग का सच्चा निर्णय भी न करे, उसे अनुभव कहाँ से होगा? लक्ष्य करके प्रयोग करने पर, परिणमन होता है, यह एक ही अनुभव की विधि है; दूसरी कोई विधि नहीं है। अनादि से नहीं प्राप्त हुआ हो वह इस रीति से ही सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। इस विधि से नरक में भी जीव, सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, स्वर्ग में, मनुष्य में, या तिर्यञ्च में भी इसी विधि से सम्यग्दर्शन और आत्म-अनुभव प्राप्त होता है। नरक -स्वर्ग इत्यादि में जातिस्मरण इत्यादि को सम्यक्त्व प्राप्ति का कारण कहा है, वह उपचार से है परन्तु वह नियम से कारण नहीं

www.vitragvani.com

है। अरे! विकल्प भी साधन नहीं तो फिर बाहर के कौन से साधन लेना है? 'मैं शुद्ध परमात्मा सच्चिदानन्द हूँ' — ऐसा विकल्प भी वास्तव में परलक्षी-पराश्रयीभाव है, वह भी अनुभव का साधन नहीं है। श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख करना, वह ही एक अनुभव का साधन है। विकल्पातीत होकर चैतन्य का स्वसंवेदन करे, तब श्रुतज्ञानी भी केवली परमात्मा की तरह पक्षातिक्रान्त-विकल्पातीत है, वह भी वीतराग जैसा ही है।

- जो जीव एकान्त एक नय को पकड़कर नय पक्ष के विकल्प में ही अटकता है परन्तु विकल्प से भिन्न पड़कर ज्ञान को स्वसन्मुख नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

- विकल्प से भिन्न पड़कर स्वसन्मुखरूप से जिसने चैतन्य का अनुभव किया है, प्रज्ञाछैनी द्वारा ज्ञान और विकल्प को पृथक् कर डाला है; उस ज्ञानी को जब निर्विकल्प अनुभव का काल न हो, तब नय पक्ष के जो विकल्प उठते हैं, वह मात्र चारित्रमोह का राग है परन्तु धर्मी को उन विकल्पों के ग्रहण का उत्साह नहीं है। वह विकल्प को साधन नहीं मानता है और उनका वह कर्ता नहीं होता है; उसका ज्ञान, विकल्प से पृथक् का पृथक् परिणमता है।

- और जब नय पक्ष सम्बन्धी समस्त विकल्पों से पार होकर स्वसंवेदन द्वारा ध्यान में हो तब तो श्रुतज्ञानी भी वीतराग जैसा ही है, अबुद्धिपूर्वक के विकल्प भले पड़े हों, परन्तु उसके उपयोग में किसी विकल्प का ग्रहण नहीं है; निर्विकल्प के अनुभव में अकेले परमानन्द को ही अनुभव करता है।

देखो, भाई! आत्मा के अनुभव का यह मार्ग अनादि-अनन्त

www.vitragvani.com

एक ही प्रकार का है। अहो! अनन्त सर्वज्ञों द्वारा कथित, सन्तों द्वारा सेवित, तीर्थङ्कर भगवन्तों और कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे सन्तों की वाणी में आया हुआ यह मार्ग है।

बारह वैराग्य भावना में कहते हैं - भाई! बाहर के पदार्थ तो शरण नहीं परन्तु अन्दर के विकल्प भी शरणरूप नहीं हैं। यह देह तो क्षण में बिखर जायेगी, यह तो तुझे अशरण है। इससे तेरा अन्यत्व है और अन्दर के विकल्प भी अशरण-अध्रुव और अनित्य हैं। उनसे तेरे चैतन्य का अन्यत्व है-ऐसा जानकर, तेरे चैतन्य की ही भावना भा! तेरे चैतन्यधाम में अनन्त केवलज्ञान और पूर्णानन्द की पर्यायें प्रगट होने की सामर्थ्य है। इस कारण परमार्थ से चैतन्य धाम ही शाश्वत् तीर्थ है; अन्तर्मुख होकर उसकी यात्रा करने से भवसागर से तिरा जाता है।

धर्मी कहते हैं कि समस्त विकल्पोंरूप बन्धपद्धति को छोड़कर अपार चैतन्यतत्त्व को मैं अनुभव करता हूँ; मेरा उत्पाद-व्यय-ध्रुव चैतन्यभाव द्वारा ही भाये जाते हैं। श्रुतज्ञान को अन्तर्मुख करके ऐसा अनुभव हो, वह सम्यग्दर्शन है। उसके लिये विकल्प का आधार नहीं है। अरे! निर्विकल्प चैतन्य की शान्ति में विकल्प का सहारा मानना तो कलङ्क है। निर्विकल्प शान्ति में विकल्प का सहारा नहीं। अनुभूति के समय विकल्प का अभाव है 'मैं साधक हूँ और सिद्ध होनेवाला हूँ' — ऐसे विकल्प, श्रुतज्ञानी को अनुभव के समय नहीं हैं। निर्विकल्प अनुभव में मुनि को मुनिपने के विकल्प नहीं और श्रावक को भी श्रावकपने के विकल्प नहीं हैं; निर्विकल्पपने में दोनों समान हैं। मुनि को विशेष आनन्द और विशेष स्थिरता है तथा गृहस्थ को कम है — यह बात भी यहाँ गौण

www.vitragvani.com

है, क्योंकि 'मुझे अल्प आनन्द है और मुनि को अधिक है' ऐसा विकल्प भी अनुभव में नहीं है। इस प्रकार अनुभव में श्रुतज्ञानी को केवलज्ञानी की भाँति पक्षातिक्रान्त कहा है।

इस प्रकार अनुभव के लिये मङ्गल उमङ्ग से शिष्य का जो प्रश्न था, उसका आचार्यदेव ने उत्तर कहा है। ●

प्रयत्न की दिशा

आत्मा के प्रयत्न के सन्दर्भ में दिशा बतलाते हुए, पूज्य गुरुदेव बहुत गहराई से कहते हैं कि —

आत्मस्वरूप क्या है, इसका निर्णय करने की धुन जागृत होनी चाहिए... सब न्याय से निर्णय करने की लगन लगनी चाहिए... समस्त पहलुओं से अन्दर निर्णय न हो तब तक चैन न पड़े... ऐसे के ऐसे ऊपरी तौर पर चलता नहीं कर देना चाहिए, अन्दर मन्थन कर-करके ऐसा दृढ़ निर्णय करे कि सारा जगत बदल जाये तो भी अपने निर्णय में शङ्का न पड़े। आत्मा के स्वरूप का ऐसा निर्णय करने से वीर्य का वेग उसकी ओर ही ढलता है। अन्तर में पुरुषार्थ की दिशा सूझ गयी, फिर उसे मार्ग की उलझन नहीं होती... फिर तो उसकी आत्मा की लगन ही उसे मार्ग कर देती है। आगे क्या करना, उसका स्वयं को ही ख्याल आ जाता है... 'अब मुझे क्या करना' – इसकी उलझन उसे नहीं होती है।

अहो! आत्मा स्वयं अपना हित साधने को जागृत हुआ... और हित न साध सके ऐसा हो ही कैसे? आत्मा का अर्थी होकर आत्मा का हित साधने के लिये जो जागृत हुआ, वह अवश्य आत्महित साधता ही है।

www.vitragvani.com

धर्मात्मा का स्वरूप-सञ्चेतन

जो अनादि से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त ज्ञानी गुरु द्वारा निरन्तर परम अनुग्रहपूर्वक शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाये जाने से, सच्चे उद्यम द्वारा समझकर जो ज्ञानी हुआ, वह शिष्य अपने आत्मा का कैसा अनुभव करता है - उसका यह वर्णन है।

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥

आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसा गुरु के उपदेश से जानकर अनुभव किया; वह अनुभव कैसा हुआ? उसका वर्णन करते हुए शिष्य कहता है कि पहले तो मैं अनादि से मोहरूप अज्ञान से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, बिल्कुल अज्ञानी था। फिर विरक्त गुरुओं ने परम कृपा करके मुझे निरन्तर आत्मा का स्वरूप समझाया। जिन्होंने स्वयं आत्मा के आनन्द का अनुभव किया है... जिनका संसार शान्त हो गया है...जो शान्त होकर अन्तर में स्थिर हो गये हैं... ऐसे परम वैरागी विरक्त गुरु ने महा अनुग्रह करके मुझे बारम्बार शुद्ध आत्मस्वरूप समझाया। जिसे समझने की मुझे निरन्तर धुन थी, वही गुरु ने समझाया।

श्रीगुरु ने अनुग्रह करके, जैसा मेरा स्वभाव कहा, वैसा झेलकर मैंने बारम्बार उसे समझाने का उद्यम किया... 'अहो, मैं तो ज्ञान हूँ, आनन्द ही मेरा स्वभाव है' — ऐसा मेरे गुरु ने मुझसे कहा; उसका मैंने सर्व प्रकार के उद्यम से अन्तर्मंथन करके निर्णय किया... मेरा उद्यम होने से काललब्धि भी साथ आ गयी... कर्म भी हट गये... सर्व प्रकार के उद्यम से सावधान होकर मैंने अपना स्वरूप समझा। मैं अपना शुद्धस्वरूप जैसा समझा, वैसा ही सर्वज्ञ परमात्मा ने और

www.vitragvani.com

श्री गुरु ने मुझसे कहा था - इस प्रकार देव-गुरु-शास्त्रों ने क्या स्वरूप समझाया है, उसका भी यथार्थ निर्णय हुआ।

जिस प्रकार कोई अपनी मुट्ठी में रखा हुआ स्वर्ण भूल गया हो और पुनः स्मरण करे; उसी प्रकार मैं अपने परमेश्वरस्वरूप आत्मा को भूल गया था, उसका अब मुझे भान हुआ। मैंने अपने में ही अपने परमेश्वर आत्मा को देखा... अनादि से अपने ऐसे आत्मा को मैं भूल गया था, मुझे किसी दूसरे ने नहीं भुलाया था, किन्तु अपने अज्ञान के कारण मैं स्वयं ही भूल गया था। अपने आत्मा की महिमा को चूककर, मैं संयोग की महिमा करता था; इसलिए मैं अपने आत्मा को भूल गया था, किन्तु श्रीगुरु के अनुग्रहपूर्वक उपदेश से सर्व प्रकार के उद्यम द्वारा अब मुझे अपने परमेश्वर आत्मा का भान हुआ। श्रीगुरु ने जैसा आत्मा कहा था, वैसा मैंने जाना।

- इस प्रकार ज्ञानस्वरूप परमेश्वर आत्मा को जानकर, उसकी श्रद्धा करके तथा उसका आचरण करके, मैं सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ। आत्मा के अनुभव से तृप्त-तृप्त आतमराम हुआ। अब मैं अपने आत्मा का कैसा अनुभव करता हूँ?

मैं एक शुद्ध सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक परमाणुमात्र नहीं अरे!

— सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित मैं अपने आत्मा का ऐसा अनुभव करता हूँ। एक आत्मा ही मेरा आराम है... एक आत्मा ही मेरा आनन्द धाम है... आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-आचरण करके मैं सम्यक् प्रकार से आत्माराम हुआ हूँ... अब मैं सच्चा आत्मा हुआ हूँ... अब मैं अपने आत्मा का ऐसा अनुभव करता हूँ कि—

www.vitragvani.com

'मैं' अपने ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होऊँ - ऐसा चैतन्यमात्र ज्योति आत्मा हूँ। राग से - इन्द्रियों से मेरा स्वसंवेदन नहीं होता। चैतन्यमात्र स्वसंवेदन से ही मैं प्रत्यक्ष होता हूँ। अपने मति-श्रुतज्ञान को अन्तर में एकाग्र करके, मैं अपना स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करता हूँ।

अपने मति-श्रुतज्ञान को इन्द्रियों से और राग से भिन्न करके स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा मैं अपना अनुभव करता हूँ। — इस प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में आनेवाला मैं हूँ। अन्तर्मुख अनुभव से जो प्रत्यक्ष हुआ, वही मैं हूँ। मेरे स्वसंवेदन में अन्य सब बाहर रह जाता है, वह मैं नहीं हूँ; स्वसंवेदन में चैतन्यमात्र आत्मा प्रत्यक्ष हुआ, वही मैं हूँ।

'मैं एक हूँ' — चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप वर्तनेवाले व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता, इसलिए मैं एक हूँ। ज्ञान की ही अखण्डमूर्ति मैं एक हूँ। पर्याय में मनुष्य-देव आदि भाव क्रमरूप हों, या योग-लेश्या-मति-श्रुतादि ज्ञान अक्रम से एकसाथ हों, किन्तु उन भेदरूप व्यवहारभावों के द्वारा मेरा भेदन नहीं हो जाता। मैं तो चिन्मात्र एकाकार ही रहता हूँ - मेरे अनुभव में तो ज्ञायक एकाकार स्वभाव ही आता है - इसलिए **मैं एक हूँ**। अपने आत्मा का मैं एकरूप ही अनुभव करता है... खण्ड-खण्ड भेदरूप अनुभव नहीं करता। पर्याय को चैतन्य में लीन करके चैतन्यमात्र ही आत्मा का अनुभव करता हूँ। आत्मा को रागादियुक्त अनुभव नहीं करता; चैतन्यमात्र एकाकार ज्ञायक भावरूप ही अनुभव करता हूँ... अपने आत्मा को ज्ञायकस्वरूप से ही देखता हूँ।

www.vitragvani.com

'मैं शुद्ध हूँ' — नर-नारकादि जीव के विशेष तथा अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप जो व्यवहार नवतत्त्व हैं, उनसे अत्यन्त भिन्न टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव हूँ; इसलिए मैं शुद्ध हूँ। मैं नवों तत्त्वों के विकल्पों से पार हूँ.... पर्याय में मैं शुद्ध ज्ञायकस्वभाव स्वरूप परिणमित हुआ हूँ, इसलिए मैं शुद्ध हूँ। शुद्ध ज्ञायकभावमात्र अपने आत्मा का मैं शुद्धरूप से अनुभव करता हूँ। नव तत्त्व के भेदों की ओर मैं नहीं ढलता — उनके विकल्पों का अनुभव नहीं करता, किन्तु ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर, नव तत्त्वों के विकल्परहित होकर, मैं अपने आत्मा का शुद्धरूप से अनुभव करता हूँ। नवों तत्त्वों के राग-मिश्रित विकल्प से मैं अत्यन्त पृथक् हो गया हूँ; निर्विकल्प होकर अन्तर में एक आनन्दस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ, इसलिए मैं शुद्ध हूँ। मेरे वेदन में शुद्ध आत्मा ही है।

'मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ' — मैं चिन्मात्र होने से सामान्य -विशेष उपयोगात्मकपने का उल्लङ्घन नहीं करता, इसलिए दर्शन -ज्ञानमय हूँ। मैं अपने आत्मा का दर्शन-ज्ञान उपयोरूप ही अनुभव करता हूँ।

'मैं सदा अरूपी हूँ' — स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण जिसके निमित्त हैं - ऐसे ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी, मैं उन स्पर्शादि रूपी पदार्थोंरूप परिणमित नहीं हुआ; इसलिए मैं सदैव अरूपी हूँ। रूपी पदार्थों को जानने पर भी, मैं रूपी के साथ तन्मय नहीं होता; मैं तो ज्ञान के साथ ही तन्मय हूँ, इसलिए मैं अरूपी हूँ। रूपी पदार्थ मुझे अपनेरूप अनुभव में नहीं आते, इसलिए मैं अरूपी हूँ।

— इस प्रकार सबसे भिन्न एक, शुद्ध, ज्ञान-दर्शनमय, सदा

www.vitragvani.com

अरूपी आत्मा का मैं अनुभव करता हूँ और ऐसे अपने स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवन्त वर्तता हूँ।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्मा के अनुभव से प्रतापवन्त वर्तते हुए ऐसे मुझे, मुझसे बाह्य वर्तनेवाले समस्त पदार्थों में कोई भी परद्रव्य-परमाणुमात्र भी अपनेरूप भासित नहीं होता। मुझसे बाहर जीव और अजीव, सिद्ध और साधक, — ऐसे अनन्त परद्रव्य अपनी -अपनी स्वरूपसम्पदासहित वर्त रहे हैं, तथापि स्वसंवेदन से प्रतावपन्त वर्तते हुए मुझे, वे कोई परद्रव्य किञ्चित्मात्र अपनेरूप से भासित नहीं होते। मेरा शुद्धतत्त्व परिपूर्ण है, वही मुझे अपनेरूप से अनुभव में आता है। मेरी पूर्णता में परद्रव्य का एक रजकणमात्र मुझे अपनेरूप भासित नहीं होता कि जो मेरे साथ (भावकरूप से अथवा ज्ञेयरूप से) एक होकर मुझे मोह उत्पन्न करे! निजरस से ही समस्त मोह को उखाड़ दिया है। निजरस से ही समस्त मोह को उखाड़कर - फिर उसका अंकुर उत्पन्न न हो, इस प्रकार उसका नाश करके मुझे महान् ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ है। मेरे आत्मा में से मोह का नाश हो गया है और अपूर्व सम्यग्ज्ञान प्रकाश फैल गया है — ऐसा मैं अपने स्वसंवेदन से नि:शङ्करूप से जानता हूँ। मेरे आत्मा में शान्तरस उल्लसित हो रहा है... अनन्त भव होने की शङ्का निर्मूल हो गयी है... और चैतन्यानन्द के अनुभवसहित महान ज्ञान प्रकाश प्रगट हो गया है।

— इस प्रकार श्रीगुरु द्वारा परम अनुग्रहपूर्वक शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाये जाने पर, निरन्तर उद्यम द्वारा समझकर शिष्य अपने आत्मा का ऐसा अनुभव करता है। ●

(श्री समयसार, गाथा 38 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)

www.vitragvani.com

बन्धन से छुटकारे का उपाय बतलाकर

आचार्यदेव शिष्य की जिज्ञासा तृप्त करते हैं

(श्री समयसार गाथा ६९-७०के प्रवचनों का दोहन)

हे भाई! सन्त तुझे आत्मा का सच्चा भोजन जिमाते हैं कि जिसके स्वाद से तुझे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरस का अनुभव होगा; इसलिए एक बार उसका रसिया हो.... और जगत् के दूसरे रस को छोड़।

मङ्गलस्वरूप भेदज्ञान ज्योति को नमस्कार हो!

समयसार के इस कर्ता-कर्म अधिकार में वस्तुस्वरूप का रहस्य और सम्यग्दर्शन की चाबी है; स्व-पर का तथा स्वभाव और विभाव का स्पष्टरूप से भेदज्ञान, आचार्यदेव ने इस अधिकार में कराया है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसकी पूर्ण सामर्थ्य खिल जाने पर, वह सर्वज्ञ होता है। वे सर्वज्ञ परमेश्वर जगत के ज्ञाता हैं किन्तु कर्ता नहीं। इस जगत में अनन्त जीव और अजीव पदार्थ हैं, वे अनादि -अनन्त स्वयं सिद्ध सत् हैं, उन पदार्थों का कोई कर्ता नहीं है। प्रत्येक पदार्थ, द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है; द्रव्य-गुण त्रिकाल है, पर्याय प्रतिक्षण नयी-नयी होती है। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य या गुण का कोई कर्ता नहीं है, उसी प्रकार उसकी प्रतिक्षणवर्ती पर्यायों का भी कोई दूसरा कर्ता नहीं है।

सर्वज्ञ, जगत के पदार्थों को ज्यों का त्यों जाननेवाले हैं; वे सर्वज्ञ भी सबके मात्र जाननेवाले हैं, किसी के करनेवाले या बदलनेवाले नहीं। यदि कोई स्वयं को पदार्थों का करनेवाला या

www.vitragvani.com

बदलनेवाला मानता है तो वह त्रिकालवेत्ता नहीं हो सकता। इस प्रकार जीव का ज्ञानस्वभाव ही है और पदार्थ स्वतन्त्र है।

जब तक जीव अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं जानता और पर के साथ कर्ता-कर्मपना मानता है, तब तक वह अज्ञानी है।

भेदज्ञान द्वारा स्व-पर को भिन्न-भिन्न जानकर, जब अपने ज्ञानस्वभाव में ही एकतारूप निर्मलपर्याय के कर्तारूप जीव परिणमित होता है, तब वह ज्ञानी है।

रागादि बहिर्भाव मेरा कार्य और मैं उनका कर्ता — ऐसे राग के साथ की एकत्वबुद्धि का कर्तृत्व, वह अज्ञानी का कार्य है और अज्ञानी उसका कर्ता है; इसलिए उस विकार का कर्ता ज्ञानस्वभाव भी नहीं है और जड़कर्म भी नहीं है; क्षणिक अज्ञानभाव ही उसका कर्ता है, ज्ञानभाव से जीव उसका कर्ता नहीं है।

ज्ञानी या अज्ञानी किसी को भी पर का कर्तापना तो है ही नहीं तथा परद्रव्य उसका कर्ता नहीं; प्रत्येक द्रव्य का कार्य अपने-अपने में ही होता है, दूसरे में नहीं होता।

अज्ञानी, कर्ता और देहादि की क्रिया उसका कार्य - ऐसा नहीं है तथा जड़कर्म इत्यादि कर्ता और रागादि उसका कार्य - ऐसा भी नहीं है। आत्मा के कार्य का कर्ता, आत्मा और जड़ के कार्य का कर्ता, जड़ है।

अज्ञानी भले ही माने कि मैं देहादि की क्रिया का कर्ता हूँ, तथापि वह कहीं देहादि की क्रिया का कर्ता नहीं हो सकता है। देहादि की क्रिया के कर्तारूप जड़-पुद्गल स्वयं परिणमित होते हैं। अज्ञानी तो उस समय मात्र अज्ञानभाव का ही कर्ता होकर परिणमित होता है। वह अज्ञान ही संसार का मूल है।

www.vitragvani.com

कर्ता-कर्म सम्बन्धी वह अज्ञान कैसे मिटे ? उसकी यह बात है। जब जीव, भेदज्ञान द्वारा स्व-पर को भिन्न-भिन्न जानता है, तब स्वद्रव्य में एकता करके वह अपनी सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्याय के कर्तारूप परिणमित होता है और उसके अज्ञान का नाश होता है।

'मेरा आत्मा एक ज्ञायकस्वभाव ही है' — ऐसा जब दृष्टि में लिया, तब क्षणिक विकारभाव अपने स्वभावरूप भासित नहीं होते परन्तु स्वभाव से भिन्नरूप ही भासित होते हैं; इसलिए उस विकार का कर्तृत्व भी नहीं रहता; ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न निर्मलदशा का ही कर्ता होता हुआ, कर्म के साथ के सम्बन्ध का नाश करके वह जीव, सिद्धपद को प्राप्त करता है।

यह बात इस कर्ताकर्म अधिकार में आचार्यदेव समझाते हैं। मङ्गलाचरण में सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया गया है -

कर्ताकर्मविभावकूं, मेटि ज्ञानमय होय,
कर्म नाशि शिव में बसे, तिहें नमूं, मद खोय॥

अनादि के अज्ञान से उत्पन्न कर्ताकर्म के विभाव को दूर करके जो ज्ञानमय हुए और कर्म का अभाव करके सिद्धालय में बसे हैं, उन सिद्ध भगवन्तों को मैं मदरहित होकर नमस्कार करता हूँ — इस प्रकार कर्ताकर्म अधिकार के मङ्गलाचरण में सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया है।

बहुत ही विनय से और पर के कर्तृत्व के अभिमान को छोड़कर, मैं सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करता हूँ।

भाई! यह मनुष्यदेह कायम नहीं रहेगी, क्षण में यह बिखर जायेगी... भेदज्ञान करके आत्मा का सुन, भाई! - इसके बिना तुझे

www.vitragvani.com

कोई शरण नहीं होगा। जो पर का कर्तृत्व मानता है, वह तुझे कहीं शरणरूप नहीं होगा; पर से भिन्न ऐसा तेरा चैतन्यतत्त्व ही तुझे शरणरूप है। उसे तू पहचान।

इस संसाररूपी नाटक की रङ्गभूमि में जीव और अजीव संयोगरूप से एकमेक जैसे दिखायी देते हैं। अनेक प्रकार के स्वाँग से मानो कि वे एक-दूसरे के कर्ता-कर्म हों, ऐसा लगता है। वहाँ अज्ञानी को उन दोनों के बीच भेद-दिखलायी नहीं देता परन्तु ज्ञानी अपने भेदज्ञान के बल से उन दोनों को भिन्न-भिन्न जान लेता है और भिन्न-भिन्न जानने से वे पृथक् पड़ जाते हैं।

इस जगत् में छह मुनियों की तरह छहों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं; किसी को किसी के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है परन्तु अज्ञानी जीव, मोह से स्व-पर को एकमेकरूप मानता है और पर के साथ कर्ता-कर्म की बुद्धि से वह अपनी प्रज्ञा को (पर्याय को) पर की मानता है; इसलिए वह दुःखी होता है। भगवान की वाणी द्वारा स्व-पर को भिन्न-भिन्न पहचानकर भेदज्ञान करते ही उसे स्वद्रव्य के अनुभव से अतीन्द्रिय आनन्द उल्लसित होता है।

सुदृष्टि तरङ्गिणी में छह द्रव्यों की भिन्नता के सन्दर्भ में छह मुनियों का सरस दृष्टान्त दिया है — जैसे एक गुफा में छह मुनिराज बहुत काल से रहते हैं परन्तु कोई किसी से मोहित नहीं है, उदासीनतासहित एक क्षेत्र में रहते हैं; उसी प्रकार छह द्रव्य एक लोकक्षेत्र में जानना। इस जगत्रूपी गुफा में जीवादि छह द्रव्य अनादि से अपने-अपने गुण-पर्यायसहित अपने-अपने स्वभाव में रहे हुए हैं। एक जगह उनकी स्थिति है परन्तु कोई एक-दूसरे

www.vitragvani.com

में मिल नहीं जाते। ऐसा ही अनादि व्यवहार है कि कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के साथ मिल नहीं जाता; किसी के गुण अन्य के साथ मिल नहीं जाते; किसी की पर्याय अन्य की पर्याय के साथ मिल नहीं जाती - ऐसी ही उदासीन वृत्ति है। वस्तु का ऐसा निरपेक्षस्वभाव यहाँ छह वीतरागी मुनियों के दृष्टान्त से समझाया है। एक गुफा में छह वीतरागी मुनि रहते हैं, छहों मुनि अपने-अपने स्वरूप-साधना में ही लीन हैं। किसी को किसी के प्रति मोह नहीं है; छहों वीतरागी मुनि एक-दूसरे से निरपेक्षरूप से स्वरूप साधना में ही लीन हैं; इसी प्रकार इस लोकरूपी गुफा में छहों द्रव्य, वीतरागी मुनियों की तरह एक-दूसरे से निरपेक्ष रहे हुए हैं, कोई द्रव्य अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता; सब अपने-अपने गुण-पर्याय में ही रहे हुए हैं।

— ऐसा निरपेक्ष वस्तुस्वभाव होने पर भी, अज्ञानी जीव, भ्रम से यह मानता है कि मैं पर का कर्ता और पर मेरा कार्य। पर के कर्ता-कर्मपने की बात तो दूर रही — यहाँ तो अन्दर के विकारीभावों के साथ भी भेदज्ञान कराकर, उन विकारीभावों के साथ कर्ता -कर्मपने की बुद्धि छुड़ाते हैं।

मैं एक चैतन्यस्वभावी तत्त्व और विकारी वृत्तियाँ अनेक प्रकार की; तो मेरा एक चैतन्यभाव, अनेकविध विकारी वृत्तियों का कर्ता कैसे हो ? इसलिए एक चैतन्यस्वभावी ऐसे मुझे, अनेकविध क्रोधादि भावों के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है — ऐसा जानता हुआ धर्मी जीव, क्रोधादि विकार का कर्ता नहीं होता।

ज्ञान और क्रोधादि को एकमेकरूप से मानता हुआ अज्ञानी जीव यह मानता है कि मैं एक चैतन्य तो कर्ता हूँ और यह क्रोधादि अनेक भाव मेरा कर्म है — इस प्रकार उस अज्ञानी को विकार के

www.vitragvani.com

साथ कर्ता-कर्म की जो प्रवृत्ति अनादि से चली आ रही है, उसका नाश किस प्रकार हो ? उसकी यह बात है।

★ क्षणिक विकार की कर्तृत्वबुद्धि में त्रिकाली चिदानन्दस्वभाव का अनादर होता है, वह अनन्त क्रोध है।

★ चैतन्य का स्वामित्व चूककर, जड़ का और विकार का स्वामित्व माना तथा उसके कर्तापने का अहंकार किया, यही अनन्त मान है।

★ सरल चैतन्यस्वभाव को वक्र करके, विकार में जोड़ा, यही अनन्त वक्रता / माया है।

★ जो अपने चैतन्यस्वभाव से भिन्न हैं - ऐसे पर और विकार के ग्रहण की बुद्धि, वही अनन्त लोभ है।

— इस प्रकार अज्ञानभाव में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का सेवन है, वही अनन्त संसार का मूल है।

भेदज्ञान होते ही उस अज्ञान का नाश होता है और अनन्त संसार का मूल छिद जाता है; इसलिए वह जीव अल्प काल में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। ऐसा भेदज्ञान कैसे हो ? उसकी यह बात है। अनन्त जीव और अजीव पदार्थ, जगत् में स्वमेव सत् अनादि-अनन्त हैं; वे प्रत्येक पदार्थ स्वभाव से ही अपने-अपने कार्यरूप परिणमित होते हैं। पदार्थ में द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है, इसलिए उनमें तो कुछ नया करना है नहीं; नया कार्य पर्याय में होता है, उस पर्याय का कर्ता, पदार्थ स्वयं है। अब यहाँ अज्ञानी, कर्ता होकर क्या करता है और ज्ञानी कर्ता होकर क्या करता है - यह बात है।

www.vitragvani.com

सम्पूर्ण चैतन्यस्वभाव को आवृत कर — उसके अस्तित्व को भूलकर, क्षणिक क्रोधादि 'वही मैं हूँ' - ऐसी बुद्धिवाला अज्ञानी जीव, क्रोधादि के साथ ही अपना कर्ता-कर्मपना मानता है। भेदज्ञान ज्योति उस अज्ञानी की कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति को सब ओर से शमन कर देती है और एक ज्ञानभाव के ही कर्ता-कर्मपने में आत्मा को स्थापित करती है।

आत्मा तो स्व-पर प्रकाशक चैतन्यप्रकाशी सूर्य है और विकार तो अन्धकार समान है। चैतन्य सूर्य, विकाररूपी अन्धकार का कर्ता कैसे हो? जैसे सूर्य और अन्धकार को कभी एकता नहीं होती; उसी प्रकार ज्ञान और विकार को कभी एकमेकपना नहीं है।

विकार तो चैतन्यस्वभाव से बहिरङ्ग है; चैतन्य का अन्तरङ्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। ऐसे चैतन्य में अन्तर्मुख होकर 'ज्ञान वही मैं' — ऐसा भान करने से जहाँ भेदज्ञानज्योति प्रगट हुई, वहाँ वह ज्ञानज्योति किसी विकार के आधीन नहीं होती, उसमें आकुलता नहीं परन्तु आनन्दता है, वीरता है, उदारता है। ज्ञानज्योति ऐसी उदार है कि सम्पूर्ण जगत को जानने पर भी, उसमें सङ्कोच नहीं होता, और ऐसी धीर है कि चाहे जैसे संयोग को जानने पर भी, वह अपने ज्ञानभाव से च्युत नहीं होती है; विकार को जानने पर भी स्वयं विकाररूप नहीं होती — ऐसी ज्ञानज्योति, विकार के कर्ता -कर्म की प्रवृत्ति को दूर कर डालती है। राग को या पर को करने का उसका स्वभाव नहीं परन्तु जगत् के समस्त पदार्थों को जानने का उसका स्वभाव है।

ऐसी ज्ञानज्योति प्रगट हो, वह अपूर्व मङ्गल है।

www.vitragvani.com

इस प्रकार ज्ञानज्योति के प्रकाशन द्वारा आचार्यदेव ने इस अधिकार का मङ्गलाचरण किया है।

अब, अज्ञानी जीव की कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति कैसी होती है? यह बात दो गाथाओं में समझाते हैं।

रे आत्म आस्रव का जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं।
क्रोधादि में स्थिति होय है, अज्ञानि ऐसे जीव की॥६९॥

जीव वर्तता क्रोधादि में, तब करम संचय होय है।
सर्वज्ञ ने निश्चय कहा, यों बन्ध होता जीव के॥७०॥

देखो! सर्वज्ञदेव की साक्षी देकर आचार्यदेव बात करते हैं।

आत्मा, पर से तो अत्यन्त पृथक् है ही; इसलिए पर के साथ तो कर्तापना, अज्ञानी माने तो भी, नहीं हो सकता। अब अन्दर के भाव की बात है। चिदानन्दस्वभाव को भूला हुआ अज्ञानी जीव, क्रोधादि आस्रवभावों में तन्मयरूप से वर्तता हुआ, उनका कर्ता होकर, कर्म बाँधता है।

'जैसे ज्ञान मैं हूँ, वैसे क्रोधादि भी मैं हूँ' — इस प्रकार ज्ञान और क्रोध को एकमेकरूप मानकर निःशङ्करूप से क्रोधादि में अपनेपने वर्तता है, वह अज्ञानी जीव, मोहरूप परिणमता हुआ नये कर्मबन्धन में निमित्त होता है।

वस्तुतः ज्ञान तो स्वभावभूत है, इसलिए ज्ञानक्रिया तो अपनी ही है; क्रोधादि तो परभावभूत है, इसलिए वह क्रोधादि की क्रिया निषेध की गयी है परन्तु ज्ञानक्रिया और क्रोधादि क्रिया के बीच की ऐसी भिन्नता को नहीं जाननेवाला अज्ञानी जीव, ज्ञान की तरह क्रोधादि का भी कर्ता होता हुआ नवीन कर्मों को बाँधता है।

www.vitragvani.com

ज्ञान तो स्वभावभूत है, इसलिए ज्ञान में नि:शङ्करूप से अपनेपने वर्तना तो यथार्थ है; 'ज्ञान वही मैं' — ऐसी जो ज्ञानक्रिया, उसमें विकल्प का आश्रय किञ्चित् भी नहीं है। वह ज्ञानक्रिया तो आत्मा के स्वभावभूत है; इसलिए उसका निषेध नहीं है, उसे आत्मा से पृथक् नहीं किया जा सकता; आत्मा और ज्ञान के बीच जरा भी भेद नहीं किया जा सकता; इसलिए धर्मात्मा, ज्ञानस्वभाव को ही अपना जानता हुआ नि:शङ्करूप से उसमें ही वर्तता है। इस ज्ञानस्वभाव में नि:शंकरूप से अपनेपने वर्तनेरूप जो ज्ञानक्रिया है, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों समाहित हो जाते हैं; इसलिए इस ज्ञानक्रिया का मोक्षमार्ग में निषेध नहीं की गया है; वह तो स्वीकार की गयी है।

— तो कौन सी क्रिया निषेध की गयी है ? वह अब कहते हैं — जैसे 'ज्ञान, वह मैं' वैसे क्रोधादि भी मैं - ऐसी बुद्धि से, ज्ञान और क्रोधादि में भेद नहीं जानता हुआ अज्ञानी नि:शङ्करूप से क्रोधादि में अपनेपने वर्तता है और क्रोधादि में लीनरूप वर्तता हुआ वह अज्ञानी, मोह-राग-द्वेषरूप परिणमता हुआ कर्म को बाँधता है — इस प्रकार बन्ध का कारण होने से उस क्रोधादि क्रिया का निषेध किया गया है।

देखो, दो क्रियाएँ हुईं — १. ज्ञानक्रिया; २. क्रोधादि क्रिया।

१. 'ज्ञान वह मैं' — ऐसे ज्ञान के साथ एकत्वपरिणमनरूप ज्ञान क्रिया, वह तो स्वभावभूत है।

२. 'क्रोध वह मैं' — ऐसे क्रोधादि के साथ एकत्व परिणमनरूप क्रोधादि क्रिया, वह परभावभूत है।

www.vitragvani.com

१. स्वभावभूत ज्ञानक्रिया का तो निषेध नहीं हो सकता। (यह ज्ञानी की क्रिया है)।

२. परभावभूत क्रोधादि क्रिया का निषेध किया गया है। (यह अज्ञानी की क्रिया है)।

३. तीसरी जड़ की क्रिया है; उसके साथ जीव को कर्ता -कर्मपने का सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञान के साथ आत्मा को त्रिकाल एकता (नित्य तादात्म्य) है परन्तु क्रोधादिक के साथ त्रिकाल एकता नहीं है; वह क्षणिक संयोगमात्र होने से संयोगसिद्धसम्बन्धरूप है, तथापि अज्ञानी इन दोनों को (ज्ञान को और क्रोध को) एकमेक मानकर वर्तता है, उनके भेद को नहीं देखता, तब तक वह मोहादि भावरूप परिणमता हुआ कर्मबन्धन करता है — ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं।●

एक..... पत्र

बारम्बार तुम्हारे पत्र में आत्मा की जिज्ञासुता को पुष्टि मिले — ऐसा लिखते हो, वह पढ़कर आनन्द होता है और जीव को प्रेरणा भी मिलती है। जीवन में आत्मा की जिज्ञासा सदा चालू रहना, प्रत्येक प्रसङ्ग में उसकी जागृति रहना, वह अवश्य लाभ का कारण होता है। जीवन में जिसकी तीव्र भावना पोसाती है वह एक बार अवश्य कार्यरत होगा ही। ज्ञानी सन्तों के समीप रहकर अन्तर की सच्ची जिज्ञासुता जगाना और फिर हमेशा उसके प्रयत्न की पुष्टि किये करना, ऐसे प्रयत्न द्वारा अवश्य निज कार्य को साधूँगा।

www.vitragvani.com

जीव का बन्धन क्यों और उससे छुटकारा कैसे ?

अहो! जङ्गल में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते मुनिवरों ने अमृत बहाया है। विकार के वेग में चढ़े हुए प्राणियों को फटकार करके ज्ञानस्वभाव की ओर मोड़ा है। अरे जीवों! वापस मुडो... वापस मुड़ो! यह विकार तुम्हारा कार्य नहीं है, तुम्हारा कार्य तो ज्ञान है। विकार की ओर के वेग से तुम्हारी तृषा नहीं बुझेगी... इसलिए उससे वापस हटो, वापस हटो। ज्ञान में लीनता से ही तुम्हारी तृषा शान्त होगी; इसलिए ज्ञान की ओर आओ रे... ज्ञान की ओर आओ।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; उस ज्ञानस्वभाव में अन्तर्मुख होकर परिणमन करनेवाले को तो अपने ज्ञान-आनन्द का ही कर्तापना होता है, विकार का कर्तापना उसे नहीं होता और जहाँ विकार का कर्तापना नहीं होता, वहाँ बन्धन, दु:ख या संसार भी नहीं होता परन्तु अज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर, उससे विमुख वर्तता हुआ, विकार का कर्ता होकर परिणमित होता है; इसलिए उसे बन्धन, दु:ख और संसार है।

यहाँ आचार्यदेव उसे समझाते हैं कि भाई! तेरे त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को तू क्षणिक विकार से पृथक् देख। ज्ञान के साथ तुझे जैसी एकता है, वैसी रागादि विकार के साथ एकता नहीं है। इसलिए उन रागादि विकार के साथ की एकताबुद्धि छोड़... उनके साथ तुझे कर्ता-कर्मपना नहीं है, उस विकार के कर्तृत्वरहित तेरे ज्ञानस्वभाव को तू लक्ष्य में ले।

www.vitragvani.com

चिदानन्दतत्त्व अन्तर में है और रागादि वृत्तियाँ बहिर्लक्ष्यी हैं; ऐसी रागादि वृत्ति का बहुमान-रुचि-आदर वर्ते, उस जीव को त्रिकाली चिदानन्दतत्त्व के प्रति अनादर-अरुचि-क्रोध है, यही महा पाप है। भेदज्ञान के द्वारा इस महापाप से कैसे बचना ? उसकी यह बात है।

भेदज्ञान क्या चीज है ? उसके भान बिना अनन्त बार जीव ने बाह्य त्याग किया, दयादि के शुभभाव किये और उस बाह्य क्रिया का या राग का ही कर्तापना मानकर अज्ञानीरूप से संसार में ही परिभ्रमण किया और दु:खी हुआ; इसलिए इन रागादि के साथ एकतारूप जो क्रोधादि क्रिया है, वह निषेध की गयी है। ज्ञान -क्रिया का ही कर्ता हूँ, क्रोधादि क्रिया का कर्ता नहीं हूँ - ऐसे ज्ञान और क्रोध का भेदज्ञान करना, वह प्रथम अपूर्व धर्म है।

विकार के कर्तापनेरूप क्रिया, आत्मा के स्वभाव से बाहर है, तथापि मानो कि वह मेरा स्वभाव ही हो - ऐसी अज्ञानी को टेव पड़ गयी है; इसलिए उस विकार के कर्तापनेरूप परिणमता है। कर्म के उदय के कारण विकाररूप परिणमता है - ऐसा नहीं है परन्तु उसे स्वयं को अज्ञानभाव से विकार का कर्ता होने की टेव पड़ गयी है, इसलिए उस विकार के कर्तारूप परिणमता है। यह अज्ञानी की क्रिया है जो कि संसार का कारण है।

जैसे गाड़ी का जुँआ उठाने की आदतवाला बैल जुँआ होते ही वहाँ अपनी गर्दन डालता है। इसी प्रकार विकार के कर्तापने की आदतवाला अज्ञानी, विकार की एकता करके परिणमता हुआ संसाररूपी जुँआ में अपने को जोड़ता है, विकार के कर्तापने का

www.vitragvani.com

यह अध्यास, ज्ञानस्वभाव के बारम्बार अभ्यास द्वारा छूट सकता है क्योंकि विकारी क्रिया आत्मा के स्वभावभूत नहीं है; इसलिए वह छूट सकती है।

शास्त्रों में निश्चय और व्यवहार का सब कथन है, वहाँ अनादि के व्यवहार से आदतन अज्ञानी जीव, निश्चय को उपेक्षित कर एकान्त व्यवहार को पकड़ लेता है। आत्मा का ज्ञायकस्वभाव सत्, जिसमें पर का संग नहीं, सती जैसा पवित्र-जिसमें विकारी परभाव की छाया भी नहीं - ऐसे स्वभाव का संग छोड़कर जो विकार के संग में जाता है, वह जीव बहिर्दृष्टि-अज्ञानी होता हुआ क्रोधादिरूप परिणमित होता है।

सती अंजना के पति पवनकुमार ने २२-२२ वर्ष तक उसे देखा नहीं, उसे उपेक्षित किया... परन्तु सती के मन में पति के आदर के अतिरिक्त दूसरा विचार नहीं। अन्ततः पवनकुमार को पश्चाताप हुआ कि मैंने बिना कारण सती को उपेक्षित किया... इसी प्रकार 'पवन' जैसा चञ्चल अज्ञानी जीव, अनादि से ज्ञप्तिक्रियारूप सती को छोड़कर विकार का कर्ता होता है... उसे श्रीगुरु समझाते हैं कि अरे मूढ़! यह विकार क्रिया तेरी नहीं है; तेरी तो ज्ञप्तिक्रिया ही है, वही तेरे स्वभावभूत है... इसलिए उसमें तन्मय हो और विकार का कर्तृत्व छोड़! गुरु के उपदेश से इस प्रकार भेदज्ञान होते ही, जीव अपनी स्वभावभू ज्ञप्तिक्रियारूप परिणमता है और विभावभूत विकारीक्रिया की कर्तापने का त्याग करता है और निजानन्द का स्वाद लेता है।

देखो, यह जीमन! जैसे बड़े उत्सव में मैसूरपाक इत्यादि का

www.vitragvani.com

जीमन (भोजन) परोसा जाता है, वैसे यहाँ मोक्ष के महोत्सव में सन्त सम्पूर्ण जगत को सामूहिक आमन्त्रित करके भेदज्ञान का अपूर्व जीमन परोसते हैं। भाई! सन्त तुझे आत्मा का सच्चा भोजन जिमाते हैं, जिसके स्वाद से तुझे अतीन्द्रिय आनन्दरस का अनुभव होगा; इसलिए एक बार उसका रसिया हो... और जगत् के दूसरे रस को छोड़। ●

सम्यक्त्व की आराधना की महिमा

सम्यक्त्व और पुण्य के बीच कितना अन्तर है, यह परमात्मप्रकाश के निम्न कथन से स्पष्ट ख्याल में आता है।

निर्मल सम्यक्त्वाभिमुखानां मरणमपि भद्रं।
तेन विना पुण्यमपि समीचिनं न भवति॥२-५८॥

निर्मल सम्यक्त्व की अभिमुखतापूर्वक (आराधनापूर्वक) मरण भी भला है परन्तु उसके बिना पुण्य भी समीचीन नहीं है, भला नहीं है।

जे णियदंसण-अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति।
तं विणु पुण्णु करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति॥२-५९॥

जो जीव, निजदर्शन के सन्मुख है, अर्थात् सम्यक्त्व का आराधक है, वह तो अनन्त सुख पाता है और उसके बिना जीव, पुण्य करने पर भी अनन्त दुःख सहता है।

इसलिए हे जीव! तू सम्यक्त्व की आराधना कर।

www.vitragvani.com

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य

(सम्यक्त्व का उपाय बतलानेवाली विशिष्ट लेखमाला)

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो? – यह बात भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार की तेरहवीं गाथा में अलौकिक प्रकार से कहा है। नव तत्त्व के परिज्ञानपूर्वक उसमें से शुद्धात्मा की अनुभूति किस प्रकार करना? – यह बात पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने इस गाथा पर प्रवचन करते हुए विस्तार से समझाई है। सम्यक्त्व के पिपासु जीवों के लिए इन प्रवचनों की लेखमाला अत्यन्त प्रेरणाकारी होने से यहाँ प्रस्तुत है।

इस लेखमाला में निम्न नौ प्रकरण हैं –

(1) भव-भ्रमण के मूल का छेदक और मोक्षसुख प्रदायक निश्चयसम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो?

(2) चैतन्य भगवान के दर्शन के लिए आँगन कैसा हो?

(3) निश्चयसम्यग्दर्शन का मार्ग।

(4) नव तत्त्व का ज्ञान, सम्यग्दर्शन का व्यवहार।

(5) भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन।

(6) नव तत्त्व का स्वरूप और जीव-अजीव के परिणमन की स्वतन्त्रता।

(7) परम कल्याण का मूल सम्यग्दर्शन... अपेक्षित भूमिका।

(8) नव तत्त्व के ज्ञान का प्रयोजन : ज्ञायकस्वभावी शुद्ध जीव का अनुभव।

(9) भगवान आत्मा की प्रसिद्धि (सर्वज्ञ के निर्णय में सम्यक् पुरुषार्थ)

www.vitragvani.com

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य (1)

भवभ्रमण के मूल का छेदक और मोक्षसुख प्रदायक

निश्चयसम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो ?

प्रथम, धर्म की शुरूआत अर्थात् सम्यग्दर्शन कैसे हो ? – उसकी यह बात है। आत्मा में शरीरादि परवस्तुएँ तो है ही नहीं और अवस्था में एक समयमात्र का विकार अर्थात् संसार है, वह भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। सम्पूर्ण चैतन्यवस्तु को एक समय के विकारवाली मानना, वह अधर्म है। आत्मा का स्वभाव तो एक समय में सब जानने की सामर्थ्यवाला है। आत्मा, अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, उसमें वर्तमान ज्ञान की अवस्था को अन्तरोन्मुख करके, नित्य स्वभाव के साथ एकरूप करना और पूर्ण चैतन्यद्रव्य को श्रद्धा में स्वीकार करना – इसका नाम धर्म की शुरूआत है।

ऐसे परिपूर्ण आत्मा की पहचान करने के लिए कैसी मान्यता छोड़नी पड़ेगी ? समस्त विपरीतमान्यताएँ छोड़ना पड़ेगी। जो निमित्त से, विकार से अथवा पराश्रय से धर्म मानते-मनवाते हैं – ऐसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की मान्यता तो सम्यक्त्व के जिज्ञासु को सर्व प्रथम ही छोड़ देना चाहिए और वर्तमान ज्ञान की अपूर्णदशा के आश्रय से कल्याण होता है – यह मान्यता भी छोड़ देना चाहिए। आत्मा में निमित्त इत्यादि परवस्तुओं का अभाव है, क्षणिक विकार का निषेध है और अपूर्ण पर्याय जितना भी आत्मा नहीं है; आत्मा तो अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा करना ही परमार्थ सम्यग्दर्शन है।

www.vitragvani.com

अहा! आठ वर्ष की ज्ञानी राजकुमारी को भी अन्तर में ऐसा यथार्थ भान होता है; इसलिए अरे! 'हम तो गाँव में पैदा हुए, अल्प बुद्धिवाले हैं और हमारा अधिकांश समय तो व्यापार-धन्धे में चला गया है तो अब हमें ऐसा आत्मा कैसे समझ में आ सकता है?' - ऐसा मत मान बैठना। सभी समझ सके, वैसा आत्मा है। प्रत्येक आत्मा में पूर्ण ज्ञान-सामर्थ्य भरा है परन्तु नजर अन्तरोन्मुख होना चाहिए। अन्तर में नजर करते ही निहाल कर दे - आत्मा ऐसी वस्तु है। नजर करते ही निहाल हो जाए - ऐसा भगवान आत्मा, चैतन्य का भण्डार है।

कोई यह मानता है कि अल्प विकासवाली क्षयोपशमदशा, वह क्षायिकभाव का कारण होती है तो वह भी पर्यायबुद्धि अर्थात् व्यवहार की मुख्यतावाला / व्यवहारमूढ़ है। अखण्ड परिपूर्ण आत्मा का आश्रय किये बिना क्षायिकभाव प्रगट नहीं होता।

जिस जिज्ञासु को ऐसा पूरा आत्मा मानना हो, उसे निमित्त और विकार से धर्म मनवानेवाले कुगुरु-कुदेव इत्यादि की सङ्गति छोड़ना चाहिए, उनका आदर और प्रशंसा छोड़ना चाहिए तथा अपनी पर्याय में सच्चे देव-गुरु की प्रशंसा इत्यादि का जो शुभभाव होता है, उस शुभराग में भी सन्तोष नहीं मान लेना चाहिए। उस राग को धर्म का कारण नहीं मानना चाहिए और ज्ञान के वर्तमान पराश्रित विकास की प्रशंसा अथवा अहङ्कार भी छोड़ना चाहिए। यदि वर्तमान विकास को ही सम्पूर्ण स्वरूप मानें तो उसकी प्रशंसा तथा अहङ्कार हुए बिना नहीं रह सकता; अत: जो जीव परिपूर्ण अखण्ड चैतन्यतत्त्व को मानता है, वह जीव, अल्प विकास को

www.vitragvani.com

अपना पूर्ण स्वरूप नहीं मानता; इसलिए उसे उस विकास का अहङ्कार या प्रशंसा नहीं होती और वह वर्तमान पर्याय को अभेद परिपूर्ण स्वभाव के सन्मुख करके, उसकी प्रतीति करता है, वही निश्चयसम्यग्दर्शन और अपूर्व धर्म है।

वर्तमान ज्ञान के विकास जितना ही अपने को मानकर न अटकते हुए; वर्तमान ज्ञान को अन्तरस्वभाव में झुकाने से, अपूर्णता अथवा पर्याय की मुख्यता दिखाई नहीं देती अर्थात् आत्मा परिपूर्ण ही प्रतीति में आता है। इस प्रकार शुद्धनय द्वारा परिपूर्ण आत्मा को प्रतीति में लेना ही वास्तविक सम्यग्दर्शन है।

यहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि 'आत्मा ज्ञानमात्र है, आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है' - ऐसा मान लिया तो वह सम्यग्दर्शन है या नहीं।

उसका **समाधान** यह है कि ऐसी ऊपरी मान्यता नहीं चलती है। सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मा कहा है, वैसा पहचानकर, अन्तर में रुचि लगाका द्रव्यस्वभाव में पर्याय की अभेदता होने पर ही आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा माना कहा जाता है। इसके अतिरिक्त हमने 'आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा मान लिया' - ऐसा कहने वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता; अन्तर में पर्याय को झुकाकर, उसका वेदन-अनुभवन होना चाहिए।

अरे! सम्पूर्ण जीवन विषय-कषाय में बिताया, शरीर की सेवा में जीवन बिताया और आत्मा की दरकार किये बिना जीवन को धूलधानी कर दिया; तथापि यदि वर्तमान में उस रुचि को बदलकर आत्मा की रुचि करे तो यह समझा जा सकता है और अपूर्व कल्याण होता है। आठ-आठ वर्ष की सम्यग्दृष्टि कुँवरियाँ /

www.vitragvani.com

लड़कियाँ भी अपने पूर्ण आत्मा को ऐसा मानती हैं कि अहो! हम तो चैतन्य हैं, अपने आत्मा को सिद्ध भगवान से किञ्चित् भी कम मानना हमको नहीं पोषाता; हम तो अपने आत्मा को परिपूर्ण ही स्वीकार करते हैं। अन्तर स्वभाव के अवलोकन तरफ झुकने पर आठ वर्ष की बालिका को भी ऐसा आत्मभान होता है; इसलिए हमें यह नहीं समझ में आ सकता - ऐसा नहीं मानना चाहिए। समस्त आत्माएँ चैतन्यस्वरूप हैं और पूरा-पूरा समझ सके - ऐसी सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है।

आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा अनुभव किये बिना आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसा मान लेने मात्र से सम्यग्दर्शन नहीं होता है। श्री सर्वज्ञ भगवान की वाणी में जैसा आत्मा कहा गया है, वैसा निर्णय में लेकर अनुभव करना चाहिए। श्री सर्वज्ञभगवान, एक समय में तीन काल-तीन लोक को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं। ऐसे सर्वज्ञभगवान ने आत्मा कैसा कहा है? जैसे स्वयं पूर्ण हैं, वैसा ही आत्मा कहा है, उससे कम नहीं कहा है। सर्वज्ञभगवान के ज्ञान में रागरहितरूप से समस्त वस्तुएँ प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न एक साथ ज्ञात होती हैं। ऐसे सर्वज्ञभगवान, आत्मा का स्वरूप अपूर्ण अथवा विकारी नहीं बतलाते, अपितु प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है - ऐसा सर्वज्ञभगवान बतलाते हैं। इस प्रकार आत्मा का परिपूर्ण स्वरूप बतलानेवाले सर्वज्ञदेव कैसे होते हैं? उनके साधक-सन्तों की दशा कैसी होती है और उनकी वाणी कैसी होती है? - ऐसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहचान तो सर्व प्रथम करना चाहिए।

सर्वज्ञभगवान कहते हैं कि हे भाई! यदि तुझे धर्म करना हो तो

www.vitragvani.com

तुझे अपने आत्मा को अपूर्ण अथवा विकारी मानना नहीं चलेगा। यदि तू आत्मा को अपूर्णतावाला अथवा विकारवाला ही मान लेगा तो तेरे आत्मा में से अपूर्णता और विकार का अभाव किस प्रकार होगा? आत्मा को अपूर्ण मानने से अपूर्णता नहीं मिटती, अपितु पूर्ण आत्मा की श्रद्धा करने से अपूर्णता क्रम-क्रम से नाश हो जाती है।

प्रत्येक आत्मा प्रभु है, पूर्ण सामर्थ्यवान् है; अवस्था में अपूर्णता भले ही हो, परन्तु सदा अपूर्णता ही रहा करे और पूर्णता प्रगट ही नहीं हो सके - ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। पर्याय से भी परिपूर्ण होने का प्रत्येक आत्मा का स्वरूप है; प्रत्येक आत्मा निर्लेप, निर्दोष परिपूर्ण परमात्मा है - ऐसा भगवान की वाणी का पुकार है। अपने ऐसे पूर्ण आत्मा को पहचानकर, उसके अनुभवसहित सम्यग्दर्शन होता है और तभी धर्म की शुरूआत होती है; इसके अतिरिक्त धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

श्री अरहन्त भगवान कहते हैं कि अहो! पूर्ण चैतन्यघनस्वभाव पर दृष्टि देकर अन्तर्मुख एकाग्र होकर मैंने केवलज्ञान प्रगट किया है। प्रत्येक जीव के अन्तर में चैतन्य-समुद्र लबालब उछल रहा है, उसमें अन्तर्दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन है। ऐसा परिपूर्ण चैतन्य आत्मा है, उसका भान किये बिना बाहर की अर्थात् देव-शास्त्र -गुरु की श्रद्धा से सच्चा सम्यक्त्व नहीं हो जाता है।

भाई! यह बात तो अपना हित करने के लिए है, पर का तो कोई कुछ कर ही नहीं सकता। अज्ञानी, मात्र अभिमान करके संसार में परिभ्रमण करता है। आत्मा का कल्याण कैसे हो? - यह

www.vitragvani.com

उसकी बात है। भाई! तू अपना तो कर..., अपना तो सुधार...., अपना हित करने के लिए निज स्वभाव में अन्तर्मुख हो जा... अपने पूर्ण स्वरूप को दृष्टि में ले। भाई! यह देह तो क्षण में छूट जाएगी। अवस्था में अल्पज्ञता होने पर भी सम्पूर्ण चेतनतत्त्व का स्वीकार करनेवाला और अल्पज्ञता का निषेध करनेवाला जीव ही सम्यग्दृष्टि है। अहो! जगत् को यह आत्मतत्व की बात तो सर्व प्रथम समझने योग्य है। दूसरा कुछ भले ही आवे या न आवे, परन्तु यह बात तो अवश्य समझने योग्य है। यह समझे बिना कल्याण नहीं हो सकता। यह समझने से ही भव का अन्त आता है।

सर्वज्ञभगवान की वाणी में वस्तुस्वरूप की परिपूर्णता प्रसिद्ध की गयी है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण परमेश्वर है, उसे किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं होती तथा प्रत्येक जड़ परमाणु भी स्वभाव से परिपूर्ण जड़ेश्वर भगवान है। जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र और परिपूर्ण है। कोई तत्त्व किसी दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं माँगता है। इस प्रकार समझकर अपने परिपूर्ण आत्मा की श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है।

समयसार कलश सात में आचार्यदेव कहते हैं कि –

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति॥

अर्थात् .... तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन जो भिन्न आत्मज्योति है, वह प्रगट होती है कि जो नव तत्त्वों में प्राप्त होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।

जो भिन्न आत्मज्योति थी, वही प्रगट हुई है। पर्याय की दृष्टि

www.vitragvani.com

से देखने पर नव तत्त्व दिखते हैं परन्तु एकरूप चैतन्यज्योति अर्थात् स्वभाव की दृष्टि से देखने पर उसमें नव तत्त्व के भङ्ग नहीं हैं और नव तत्त्व के लक्ष्य से होनेवाले राग से भी वह भिन्न है – ऐसे शुद्ध आत्मा को देखनेवाले ज्ञान को शुद्धनय कहते हैं। भगवान! तू अन्दर से श्रद्धा-ज्ञान करके, वस्तु को पहचान तो सही! नव तत्त्व की रागमिश्रित श्रद्धा, वह पुण्यबन्ध का कारण है; धर्म का कारण नहीं है। नव तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारसम्यक्त्व कहा है। वह व्यवहारसम्यक्त्व, शुभराग है; उसे वस्तुतः सम्यक्त्व मानना तो मिथ्यात्व है।

अहो! आचार्यदेव कहते हैं कि जब एक अखण्ड चैतन्यस्वभाव की दृष्टि छोड़कर मात्र नव तत्त्व के भेदों का अनुभव करना भी मिथ्यात्व है तो फिर कुदेवादि की श्रद्धा की बात ही कहाँ रही? उसकी तो बात ही यहाँ नहीं ली गयी है।

अभेद स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् धर्मी को नव तत्त्वादि के विकल्प होने पर भी, उसकी दृष्टि भिन्न एकाकार आत्मज्योति पर है। नव तत्त्व का ज्ञान करने पर भी आत्मज्योति अपने एकत्व को नहीं छोड़ती अर्थात् धर्मी की दृष्टि एकरूप चैतन्यज्योति से नहीं हटती है।

जो जीव, मात्र नव तत्त्व का रागसहित विचार करता है और भिन्न एकरूप आत्मा का अनुभव नहीं करता, वह तो मिथ्यात्वी है। नव तत्त्व के भेद में रहने से एकरूप आत्मा ज्ञात नहीं होता – अनुभव नहीं आता, किन्तु एकरूप अनुभव करने पर उसमें नव तत्त्व का रागरहित ज्ञान समाहित हो जाता है। अन्दर में 'यह बात

www.vitragvani.com

मुझे नहीं समझ में आती' - ऐसी बुद्धि रखकर सुनेगा तो उसे समझने का यथार्थ प्रयत्न कहाँ से होगा? आज यह बात मैं अभी सुन रहा हूँ परन्तु पूर्ण आत्मा की बड़ी बात कल मुझे याद रहेगी या नहीं रहेगी? - ऐसी भी जिसे शङ्का होती है तो वह 'अहो! यह मेरे आत्मा की अपूर्व बात है, मैं अन्तर्मुहूर्त में एकाग्र होकर इसका अनुभव करूँगा' - ऐसी होंश और निःशङ्कता कहाँ से लाएगा और ऐसी निःशङ्कता के बिना उसका प्रयत्न अन्तर्मुख कैसे हो पाएगा? अभी भी क्या कहा है? - यह अन्तर में पकड़कर याद रहने की भी जिसे शङ्का है, उसे अन्तरसन्मुख होकर, वैसा अनुभव कैसे होगा? मैं परिपूर्ण केवलीभगवान जैसा हूँ, एक समय में अनन्त लोकालोक को जानने की सामर्थ्य मुझमें है, उसमें अन्तर एकाग्र होऊँ, इतनी ही बात है। इस प्रकार अपनी सामर्थ्य का विचार करना चाहिए।

नव तत्त्व के भेद की श्रद्धा छोड़कर, अखण्ड चैतन्यस्वभाव के आश्रय से रागरहित श्रद्धा करना, वह परमार्थ सम्यक्त्व है। अखण्ड चैतन्यस्वभाव के आश्रय से नव तत्त्व का रागरहित ज्ञान हो जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव समयसार गाथा-13 में कहते हैं कि इस प्रकार भूतार्थ से एक आत्मा को जानना, वह सम्यग्दर्शन है।

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥

भूतार्थ से जाने अजीव जीव, पुण्य पाप रु निर्जरा।
आस्त्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना॥

www.vitragvani.com

अर्थात् भूतार्थनय से ज्ञात जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – यह नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

यहाँ नव तत्त्वों को भूतार्थनय से जानने को सम्यक्त्व कहा है, उसमें 'भूतार्थ' कहने से नव तत्त्व के भेद का लक्ष्य छोड़कर, अन्तर चैतन्यस्वभाव सन्मुख ढलने की बात आयी है। भूतार्थ एकरूप स्वभाव की ओर ढलकर, नव तत्त्वों का रागरहित ज्ञान कर लिया है अर्थात् नव तत्त्वों में से एकरूप अभेद आत्मा को पृथक् करके श्रद्धा की है, वह वास्तव में सम्यक्त्व है।

अकेले नव तत्त्व के लक्ष्य में अटककर, नव तत्त्व की श्रद्धा करना, वह भी अभी सम्यक्त्व नहीं है। जिसे अभी यह भी नहीं पता हो कि नव तत्त्व क्या है ? उसे तो व्यवहारसम्यक्त्व भी नहीं है। व्यवहारसम्यक्त्व के बिना तो किसी को सीधा निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो जाता और व्यवहारसम्यक्त्व से भी निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो जाता। पहले जीव-अजीवादि नव तत्त्व क्या हैं ? वह समझना चाहिए। मैं जीव हूँ, शरीरादि अजीव हैं, उनसे मैं भिन्न हूँ।

नव तत्त्व में पहला जीवतत्त्व है। जीव किसे कहना ? शरीरादि जीव नहीं हैं, राग भी वास्तव में जीव नहीं हैं और अल्प ज्ञानदशा भी जीवतत्त्व का वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। जीव तो परिपूर्ण चैतन्यमय अनन्त गुण का एकरूप पिण्ड है। मैं परिपूर्ण परमात्मा के समान हूँ, रागादि रहित चैतन्यस्वरूप हूँ; मुझमें निमित्त का अभाव है और रागादि का निषेध है; इस प्रकार पहले रागसहित विचार से जीव को मानता है, उसे भी अभी सम्यक्त्व नहीं है तो फिर जो पहले व्यवहार से – रागमिश्रित विचार से इतना भी नहीं

www.vitragvani.com

जानता, वह तो एक चैतन्यतत्व का अनुभव किस प्रकार करेगा? वस्तुस्वरूप को समझने-समझाने पर नव तत्त्व का विकल्प आये बिना नहीं रहता। भेद किये बिना समझाना किस प्रकार? परन्तु उस भेद के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

मैं जीव हूँ, शरीरादि पदार्थ मुझसे भिन्न अजीवतत्त्व हैं। वह अजीव वस्तु उसके द्रव्य-गुण-पर्यायवाली है; इसलिए उसकी पर्याय उससे स्वयं से ही होती है; मुझसे नहीं होती। शरीर की क्रिया जीव के कारण नहीं होती, क्योंकि जीव और अजीव दोनों तत्त्व पृथक् हैं। इस प्रकार वह तत्त्वों को अलग-अलग माने, तब उसने जीव-अजीव इत्यादि तत्त्वों को व्यवहार से माना कहा जाता है। नव तत्त्वों को, नवरूप से अलग-अलग मानने को व्यवहारश्रद्धा कहते हैं परन्तु जीव-अजीव सबको एकमेक मानना अर्थात् जीव, अजीव का कर्ता है - ऐसा मानना तो व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है।

आत्मा, शरीर की क्रिया कर सकता है - जो ऐसा मानता है, उसे तो जीव-अजीव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है। नव तत्त्वों को, नव तत्त्वरूप से भिन्न मानना, उस रागसहित श्रद्धा को व्यवहारसम्यक्त्व कहा जाता है और नव तत्त्व के विकल्प से पार होकर अभेद चैतन्यतत्त्व की अन्तर्दृष्टि करना, वह परमार्थ श्रद्धा है। भाई! यह अपूर्व बात है।

प्रश्न - परन्तु साहेब! आत्मा की समझ में बुद्धि नहीं लगती है न?

उत्तर - देखो भाई! बुद्धि अन्यत्र तो लगती है न? तो दूसरी जगह बुद्धि लगती है और आत्मा में नहीं लगती, इसका कोई

www.vitragvani.com

कारण ? संसार की पढ़ाई में और व्यापार-धन्धा इत्यादि में तो बुद्धि को लगाता है और अन्तर-चैतन्य के समझने में बुद्धि को नहीं लगाता तो उसे इसमें अपना हित भासित नहीं हुआ है। यदि वास्तव में ऐसा भासित हो कि चैतन्यतत्त्व की समझ में ही मेरा हित है तो उसमें अपनी बुद्धि लगे बिना रहेगी ही नहीं। अहो! इसमें मेरा कल्याण है, इसमें मेरे प्रयोजन की सिद्धि है; इस प्रकार उसे चैतन्यतत्त्व की महिमा भासित नहीं हुई है। यदि चैतन्य की रुचि हो तो उसमें बुद्धि लगे बिना नहीं रह सकती और यह बात समझ में न आवे - ऐसा भी नहीं हो सकता है। ●

किसे हर्ष नहीं होगा....

सम्यग्दर्शन!.... अहा जो अपने जीवन का महाकर्तव्य है उसका नाम सुनने पर भी आत्मार्थी को रोम-रोम में कैसा हर्ष जागृत होता है! सत्य ही है। स्वयं को परम प्रिय वस्तु का वर्णन सुनकर किसे हर्ष नहीं होगा और उसकी अनुभूति की तो क्या बात!!

www.vitragvani.com

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य - (2)

चैतन्य भगवान के दर्शन के लिए

आँगन कैसा हो ?

निश्चय अर्थात् सच्चा सम्यक्त्व किसे कहना ? जो सम्यक्त्व अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करनेवाले अनन्त जीवों ने कभी एक सैकेण्डमात्र भी प्राप्त नहीं किया, वह सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो ? - उसका उपाय यहाँ बतलाया जा रहा है। आत्मा का जैसा स्वभाव है, उसकी समझ करके, उसका अन्तर में घोलन करना ही सम्यग्दर्शन का उपाय है और वह प्रथम धर्म है।

शरीरादि परवस्तु और विकार ही मैं हूँ - ऐसा मानकर, जीव अपने ध्रुव चैतन्यस्वभाव को चूक जाता है, उसे भगवान, मिथ्यात्व अर्थात् अधर्म कहते हैं। उस विपरीतमान्यता का अभाव करके, ध्रुव चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन, कार्य है तो उसका उपाय क्या है ? यही कि स्वभाव सन्मुखता की रुचि करके उसका अन्तर्विचार करना ही सम्यग्दर्शन का उपाय है। जो शुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि और लक्ष्य है, वही सम्यग्दर्शन का निश्चय उपाय है।

श्री सर्वज्ञदेव कहते हैं कि हम ज्ञानस्वरूप आत्मा है। अन्तर्मुख होकर स्वभाव का विश्वास करके, उसमें एकाग्र होने से हमारी पूर्ण शुद्ध रागरहित केवलज्ञानदशा प्रगट हुई है। तू भी हमारे जैसा आत्मा है और तुझमें भी हमारे जितनी ही परिपूर्ण सामर्थ्य है। हमारी अवस्था में से रागादि का अभाव हो गया है क्योंकि वह

www.vitragvani.com

हमारा स्वरूप नहीं था; अत: तेरी अवस्था में जो मिथ्यात्व-रागादि हैं, वह तेरा भी स्वरूप नहीं हैं, अपितु तू भी विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इस प्रकार अपने परमार्थस्वरूप का अनुमान करके, उसकी रुचि कर - यही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय है।

शरीर-मन-वाणी इत्यादि तो जड़ हैं, अजीव हैं; वे आत्मा से भिन्न हैं - ऐसा दृष्टिगोचर होता है और क्रोधादि विकारीभाव तो नये-नये करे तो होते हैं, न करे तो नहीं होते - ऐसा अनुभव में आता है। पूर्व में काम-क्रोधादि की तीव्र विकारी वासना हुई हो, उसका वर्तमान ज्ञान में विचार करने से उनका ज्ञान होता है परन्तु वह विकारी वासना वर्तमान में प्रगट नहीं होती; इसलिए वह विकारी वासना, आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है; ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। इस प्रकार अनुमान से आत्मा के स्वभाव को लक्ष्य में लेकर निर्णय करना, वह सम्यग्दर्शन का कारण है।

किसी को तीव्र क्रोधावेश में किसी की हत्या करने की वृत्ति उत्पन्न हुई और उसने दो-चार हत्याएँ कर डालीं; तत्पश्चात् जब वह वृत्ति रुक गयी, तब वह उसका पश्चाताप करता है। उस समय पूर्व में हत्या करने का जो क्रोध का वेग था, वह वर्तमान में नहीं आता, क्योंकि वह चैतन्य का स्वभाव नहीं है। देखो, यह तो तीव्र विकार की बड़ी बात की है। इसी प्रकार दूसरे भी पुण्य अथवा पाप के जो विचार आते हैं, वे दूसरे क्षण मिट जाते हैं; इसलिए वे मेरा स्वरूप नहीं हैं। मैं विकार का ज्ञान करनेवाला स्वयं विकाररहित ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसा पहले अनुमान करना चाहिए।

www.vitragvani.com

वह अनुमान भी यथार्थ है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता – ऐसा स्वभाव का अनुमान किया, वही सम्यग्दर्शन का उपाय है।

अहो! अनन्त काल में चैतन्य का शरण कौन है? यह जीव ने कभी विचार ही नहीं किया है। बाहर में कोई पदार्थ आत्मा को शरणरूप नहीं है, शरीर भी शरणरूप नहीं है। जिसने चैतन्यतत्त्व की अन्तर शरण चूक कर, बाहर में शरण मानी है, वह मरणकाल में अशरणरूप होकर मरता है। ध्रुव-चैतन्यस्वरूप को जाने बिना किसकी शरण में शान्ति रखेगा? अरे भाई! क्या ऐसा ही स्वरूप होगा? क्या कोई शरणरूप वस्तु नहीं होगी? अन्तर में चैतन्यतत्त्व शरणभूत है, उसका लक्ष्य कर।

जिसे अपूर्व धर्म करना हो, वह जीव, कुदेवादि की मान्यता छोड़कर पहले तो आत्मस्वभाव जैसा है, वैसा ज्ञान में विकल्पसहित निर्णय करता है; तत्पश्चात् अन्तरस्वभाव सन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभव प्रगट होने पर विशेष दृढ़-निर्णय होकर सम्यक्प्रतीति प्रगट होती है। इसमें अन्तर में आत्मा के विचार की जो क्रिया है, ज्ञानी को उसका माहात्म्य नहीं आता। पहले नव तत्त्वों के रागमिश्रित विचार बिना, सीधे एक आत्मा के अनुभव में नहीं आया जा सकता तथा एक अभेद आत्मा के अनुभव में यह नव तत्त्व के विकल्प सहायकरूप नहीं हैं। वर्तमान ज्ञान की दशा, अखण्ड चैतन्य के सन्मुख होकर, उसके ज्ञानपूर्वक आत्मस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा होना ही निश्चयसम्यग्दर्शन है – ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करने के जिज्ञासु को नव तत्त्व का ज्ञान कैसा होना चाहिए? यहाँ उसकी बात करते हैं।

www.vitragvani.com

मैं जीव हूँ, शरीर इत्यादि अजीव हैं; दया-दान-व्रत इत्यादि भाव पुण्य हैं। पुण्य है, वह जीव नहीं है और जीव है, वह पुण्य नहीं है। अजीव से जीव भिन्न है। इस प्रकार नव तत्त्व अभूतार्थनय से हैं, उन्हें ज्यों का त्यों जानना चाहिए। देखो, इतना जानना भी अभी कोई धर्म नहीं है। धर्म तो अन्तर में भेद का लक्ष्य छोड़कर, एकरूप परमार्थस्वभाव के अनुभव से होता है परन्तु इससे पूर्व उपरोक्त कथनानुसार नव तत्त्व के विचाररूप शुभभाव की प्रवृत्ति आये बिना नहीं रहती है।

अहो! जीव ने कभी अपनी आत्मा की दरकार नहीं की है। जैसे, बैल और गधे अपना सम्पूर्ण जीवन भार खींच-खींचकर पूरा कर देते हैं; उसी प्रकार बहुत से जीव तो यह मनुष्यभव प्राप्त करके भी व्यापार-धन्धा और रसोई इत्यादि की मजदूरी कर-करके जीवन गँवा देते हैं। कोई भी पर का तो कुछ कर ही नहीं सकता, व्यर्थ ही पर का अभिमान करता है परन्तु आत्मा कौन है ? और उसका स्वरूप क्या है ? इस बात का कभी अन्तरङ्ग में विचार नहीं करता।

मैं तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप जीवतत्त्व हूँ और शरीरादि अजीवतत्त्व हैं; दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। बाहर में पैसा इत्यादि वस्तुएँ लेने -देने की अथवा रसोई करने की क्रिया जड़ की है, वह मैं नहीं कर सकता हूँ; मैं तो जाननहार तत्त्व हूँ। जीव और अजीव सदा भिन्न हैं। इस प्रकार नव तत्त्व के यथार्थ विचार करना भी अभी व्यवहारसम्यक्त्व है और नव तत्त्व के भेद के विकल्परहित एक चैतन्यस्वरूप आत्मा की श्रद्धा करके अनुभव करना, वह परमार्थ

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन है। राजा श्रेणिक को ऐसा सम्यक्त्व था, उसके फल में संसार का नाश करके वे आगामी चौबीसी में पहले तीर्थङ्कर होकर, उसी भव से मुक्ति प्राप्त करेंगे। यद्यपि उन्हें व्रतादिक नहीं थे, तथापि यहाँ कहा गया वैसा आत्मा का भान था अर्थात् सम्यग्दर्शन था; इस कारण वे एकावतारी हुए हैं।

तीर्थ अर्थात् तिरने का उपाय। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही तिरने का उपाय है और उसकी प्रवृत्ति में नव तत्त्व की श्रद्धा इत्यादि निमित्तरूप है। वह व्यवहारश्रद्धा कोई मूलस्वरूप नहीं है, वह स्वयं तीर्थ अथवा मोक्षमार्ग नहीं है परन्तु वह व्यवहारश्रद्धा, परमार्थ में जाने पर बीच में आये बिना नहीं रहती।

इस जगत् का कर्ता कोई ईश्वर है अथवा सब मिलकर एक ब्रह्मस्वरूप ही है - इत्यादि कथनरूप कुतत्त्वों की श्रद्धा छूटकर श्री सर्वज्ञदेव द्वारा कथित नव तत्त्वों को लक्ष्य में लेना, वह व्यवहारश्रद्धा है; उसमें अभी रागपरिणाम है और उस राग से रहित होकर स्वसन्मुखरूप से अभेद आत्मा की प्रतीति करना, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन है और वही धर्म है।

प्रश्न - मरण के काल में ऐसी प्रतीति करे तो ?

उत्तर - भाई! अभी भी आत्मा के भान बिना तू प्रतिक्षण भावमरण ही कर रहा है; इसलिए उस भावमरण से बचने के लिए आत्मा के स्वभाव की पहचान कर।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि -

तू क्यों भयङ्कर भावमरण प्रवाह में चकचूर है!

भाई! मैं पर का कर्ता हूँ और विकल्प से मुझे लाभ होता है —

www.vitragvani.com

ऐसा मानकर, इस विपरीतमान्यता से तेरा आत्मा प्रतिक्षण भयङ्कर भावमरण कर रहा है। यदि तुझे उस भावमरण से बचकर अपनी आत्मा का जीवन प्राप्त करना हो तो चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रतीति कर। इस चैतन्य की प्रतीति के बिना चैतन्य जीवन नहीं जिया जा सकता और भावमरण से नहीं बचा जा सकता।

व्यवहारसम्यक्त्व में तो भेद से नव तत्त्व की श्रद्धा है और अभेद परमार्थ सम्यक्त्व में तो एकरूप अभेद आत्मा की ही प्रसिद्धि है। आत्मख्याति, वह निश्चयसम्यक्त्व का लक्षण है।

हे भाई! तुझे भगवान के समीप आना है या नहीं? तुझे चैतन्य भगवान का साक्षात् दर्शन करना है या नहीं? तो पहले तुझे व्यवहारश्रद्धा एकदम सही करनी पड़ेगी। चैतन्य भगवान के दर्शन करने में पहले द्वारपालरूप व्यवहारश्रद्धा आती है परन्तु यदि उस द्वारपाल के पास ही रुक जाएगा तो तुझे चैतन्य भगवान के दर्शन नहीं होंगे। प्रथम, नव तत्त्व को भलीभाँति जानकर, एक अभेद आत्मा के स्वभावसन्मुख अन्तर झुकाव करके, प्रतीति करने से चैतन्य प्रभु के दर्शन होते हैं; वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन द्वारा उस चैतन्य भगवान के दर्शन करते हुए, भव का अन्त आ जाएगा। इस चैतन्य भगवान के दर्शन किये बिना, भव का अन्त नहीं आ सकता है।

जो जीव, नव तत्त्व के ज्ञान में भी गड़बड़ी करता है, वह तो अभी चैतन्य भगवान के आँगन में भी नहीं आया है; उसे चैतन्य भगवान के दर्शन नहीं हो सकते हैं। पहले रागमिश्रित विचार से जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न मानना, वह चैतन्य भगवान का आँगन है और अभेदस्वरूप की रागरहित अनुभवसहित प्रतीति

www.vitragvani.com

करना, वह चैतन्य भगवान के साक्षात् दर्शन है, वह निश्चय -सम्यग्दर्शन है।

नव तत्त्व में तीसरा पुण्यतत्त्व है। वह पुण्यतत्त्व भी जीव को शरणभूत नहीं है। जीवतत्त्व, नित्य ध्रुवरूप है और पुण्यतत्त्व क्षणिक विकार है। पुण्य के आधार से जीवतत्त्व नहीं है। जीवतत्त्व और पुण्यतत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। त्रिकाली जीवतत्त्व, वह पुण्य का कारण नहीं है। यदि त्रिकाली तत्त्व, पुण्य का कारण हो तो पुण्य का अभाव कभी नहीं होगा। पुण्यतत्त्व स्वयं जीव नहीं है और जीवतत्त्व, वह पुण्य नहीं है। इस प्रकार दोनों तत्त्वों का भिन्न-भिन्न स्वरूप जानना चाहिए।

चैतन्यदेव का सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए पहले द्वार के रूप में अर्थात् निमित्तरूप में व्यवहाररूप में नव तत्त्व की श्रद्धा होती है, तथापि परमार्थ सम्यग्दर्शन तो एक अभेद तत्त्व की श्रद्धा से ही होता है, व्यवहारश्रद्धा तो वारदान के समान है; मूल वस्तु तो अन्दर में अलग है।

पुण्यभाव, वह त्रिकाली आत्मा नहीं है। यदि पुण्यभाव से आत्मा का प्रगट होना माना जाए तो जीव और पुण्यतत्त्व अलग -अलग नहीं रहते और त्रिकाली जीवतत्त्व को पुण्य का कारण मानें तो भी जीव और पुण्यतत्त्व अलग नहीं रहते। दया, दान, पूजा, भक्ति, तीर्थयात्रा, ब्रह्मचर्य इत्यादि शुभपरिणाम हैं, वह पुण्यतत्त्व है। यदि वह पुण्यतत्त्व, आत्मा हो तो आत्मा से उसकी भिन्नता निश्चित नहीं हो सकती और नव तत्त्व भी नहीं रहते है। जीव में जीव है और पुण्य में पुण्य है; जीव में पुण्य

www.vitragvani.com

नहीं, पुण्य में जीव नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व का अपना भिन्न-भिन्न लक्षण है। नव तत्त्वों का ऐसा निर्णय करना, वह व्यवहारसम्यक्त्व है।

पुण्यतत्त्व, वह आत्मा नहीं है और पुण्यतत्त्व, वह पाप भी नहीं है। दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि के भाव, वह पुण्यतत्त्व है, वह कोई पाप नहीं है तो उन दया-पूजादि के भाव को पाप मनवानेवाले को तो नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा नहीं है। अन्तरस्वभाव का निर्णय करने के बीच में नव तत्त्व की श्रद्धा का विकल्प आये बिना नहीं रहता है। अज्ञानी लोग ऐसा मानते और मनवाते हैं कि धर्म से धन, धन से धर्म होता है। वस्तुत: उन्हें जीव और अजीव तत्त्व की श्रद्धा नहीं है। धर्म का सम्बन्ध धन के साथ नहीं, किन्तु चैतन्य के साथ है। धन तो अजीवतत्त्व है। क्या उस अजीव से जीव को धर्म होता है ? धन से धर्म तो नहीं होता, किन्तु धन से पुण्य भी नहीं होता। धन तो जड़तत्त्व है और पुण्य तो जीव का मन्द कषायभाव है, यह दोनों भिन्न हैं। ऐसा होने पर भी जो जीव, पैसे से धर्म मानता है अथवा पैसे से पुण्य या पाप मानता है, उसे व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है।

श्री आचार्यदेव तो आत्मा की परमार्थ श्रद्धा करवाना चाहते हैं। अभी नव तत्त्व जैसे हैं, वैसे विकल्प से मानें, परन्तु नव के भेदरहित एक परमार्थ आत्मा को श्रद्धा का विषय नहीं बनावे, वहाँ तक सम्यक्त्व नहीं होता है।

जिनमन्दिर में भगवान के समीप हाथ जुड़ते हैं, शरीर नमता है अथवा भाषा बोली जाती है, वह जड़ की किया है; उस जड़ की

www.vitragvani.com

क्रिया के कारण पुण्य नहीं है और पुण्य से धर्म नहीं है। शुभभाव से पुण्य है और अन्तर में परमार्थस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से धर्म है। अरे! जैन कहलाने और साधु नाम धरानेवालों को भी अभी नव तत्त्व के भाव का भी पता नहीं होता; अत: वास्तव में उन्हें जैन नहीं कहते।

पुण्य और पाप, वह वर्तमान क्षणिक विकारीदशा है और जीव तो त्रिकाली तत्त्व है। जड़ से पुण्य-पाप नहीं हैं तथा त्रिकाली जीवतत्त्व भी पुण्य-पाप का कारण नहीं है। यदि त्रिकाली जीवतत्त्व में पुण्य-पाप हो तो उनका कभी अभाव नहीं हो सकता। इस प्रकार जीवतत्त्व में पुण्य नहीं है तथा अजीवतत्त्व में भी पुण्य नहीं है; पुण्य स्वतन्त्र है, क्षणिक विकारीदशा है। यह सब शुद्धनय का विषय नहीं, अभूतार्थनय का विषय है - ऐसी नव तत्त्व की श्रद्धा, वह व्यवहारसम्यक्त्व है।

देखो, अभी तो धर्म के आँगन में आने पर व्यवहारश्रद्धा में भी इतना स्वीकार आ जाता है, फिर एक शुद्ध आत्मा के सन्मुख होकर अनुभव करने से सम्यक्प्रतीतिरूप धर्म प्रगट होता है।

चौथा, पाप तत्त्व है। जगत् तो परजीव के मरने से अथवा शरीर की क्रिया से पाप मानता है परन्तु वह वास्तव में पाप नहीं है। पाप तो जीव का कलुषितभाव ही है। अजीव में पापभाव नहीं है; पापभाव तो जीव की क्षणिक विकारी अवस्था है। जीव की अवस्था को छोड़कर कहीं बाहर में तो पाप रहता ही नहीं। पुण्य-पाप इत्यादि तत्त्व, क्षणिक अवस्था में हैं अर्थात् वर्तमान अवस्थादृष्टि से देखने पर यह नव तत्त्व विद्यमान हैं, इन्हें जानना चाहिए।

www.vitragvani.com

कोई कुदेवादि को मानता हो और कुव्यवहार में भटकता हो, उससे छूटने के लिए और सच्चे व्यवहार में आने के लिए यह नव तत्त्व की श्रद्धा काम की है किन्तु नव तत्त्व तो भेददृष्टि है; इसलिए इनके लक्ष्य से परमार्थ सम्यक्त्व नहीं होता है। अभेददृष्टि में तो अकेला भूतार्थ आत्मा ही है, उसकी प्रतीति ही परमार्थ सम्यक्त्व है। जिसे ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए चैतन्य के अन्तर में ढलना हो, उसे पहले ऐसी नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धारूप आँगन में आना पड़ेगा।

जिसने वास्तव में ऐसा माना है कि पुण्य से पैसा प्राप्त होता है, उसने पुण्य और अजीव को एक माना है तथा पैसे से धर्म होना माननेवाले ने अजीव और धर्म अर्थात् संवरतत्त्व को एक माना है तथा पुण्य से धर्म माननेवाले ने भी पुण्य और संवरतत्त्व को एक माना है - यह सभी विपरीतमान्यताएँ हैं। जिसे नव तत्त्व की ठीक -ठीक श्रद्धा भी नहीं है, उसका तो आँगन भी साफ नहीं है और उसे चैतन्य के घर में प्रवेश नहीं होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता है; इसलिए नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों मानना चाहिए। यह चैतन्य स्वभाव के दर्शन के लिए आँगन है। ●

www.vitragvani.com

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य - (3)

निश्चयसम्यग्दर्शन का मार्ग

अरे! मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है? किस कारण से मुझे यह संसार भ्रमण है और किस कारण से यह भ्रमण मिटेगा? — ऐसी यथार्थ विचारदशा भी जीव को जागृत नहीं हुई है। ऐसी विचारदशा जागृत हो, निर्णय करे और फिर आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर प्रतीति करे, तब सम्यग्दर्शन प्रगट होकर भवभ्रमण का अभाव होता है।

जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, सुखी होना हो, धर्म करना हो अथवा सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसे क्या करना चाहिए? - यह बात यहाँ चल रही है।

पहले तो जीवादि नव तत्त्वों को भिन्न-भिन्न ज्यों के त्यों जानना चाहिए। इन नव तत्त्वों के विचाररूप भाव, अखण्ड चैतन्य वस्तु में जाने में निमित्त होते हैं। जैसे, दरवाजे के द्वारा घर के अन्दर आया जाता है परन्तु दरवाजा साथ में लेकर अन्दर नहीं आया जाता है; इसी प्रकार अन्दर के चैतन्य घर में आने के लिए नव तत्त्व के विचार करना, वह दरवाजा है अर्थात् निमित्त है परन्तु उन नव तत्त्व के विचार के शुभराग से कहीं अभेदस्वभाव में नहीं पहुँचा जा सकता तथा पहले नव तत्त्व के ज्ञानरूप आँगन में आये बिना भी अभेद में नहीं जाया जा सकता।

अहो! अनन्त काल में ऐसा मनुष्यदेह प्राप्त हुआ, उसमें विचार करना चाहिए कि मेरा कल्याण कैसे हो? अनन्त काल में

www.vitragvani.com

कल्याण नहीं हुआ और निगोदादि अनन्त भवों में परिभ्रमण किया। अब, इस अनन्त काल में दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके आत्मा का कल्याण कैसे हो ? उसकी यह बात है।

जिस प्रकार राजा से मिलने जाने पर पहले बीच में द्वारपाल आता है; इसी प्रकार इस चैतन्य महाराज की प्रतीति और अनुभव करने जाने पर बीच में नव तत्त्व की श्रद्धारूप द्वारपाल आता है। उन नव तत्त्वों का वर्णन चल रहा है; उसमें जीव, अजीव, पुण्य और पाप – इन चार तत्त्वों का वर्णन आ गया है। सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो ? यह उसकी विधि कही जा रही है। यह सम्यग्दर्शन का उपाय है। आत्मा, देह इत्यादि परवस्तुओं से भिन्न चैतन्यवस्तु है, उसे वैसा ही मानना, सम्यक्श्रद्धा का मार्ग है।

जैसे, किसी मनुष्य के पास करोड़ रुपये की पूँजी हो और उसे करोड़ो रुपये की पूँजीवाला माने तो वह मानना सच्चा कहलाता है परन्तु करोड़ रुपये की पूँजीवाले को हजार रुपये की पूँजीवाला मानें तो उस मनुष्य सम्बन्धी मान्यता सच्ची नहीं कहलाती। करोड़ रुपये की पूँजी का ज्ञान करने के बाद, करोड़ रुपये की पूँजी अपने को कैसे हो ? यह बात तो मिथ्या है। इसी प्रकार आत्मा अनन्त गुणों का स्वामी सिद्ध भगवान जैसा है, उसे वैसे पूर्णस्वरूप में पहले विचार में लेना, वह व्यवहार से जीवतत्त्व की सच्ची मान्यता है, उसमें अभी विकल्प है। चैतन्यतत्त्व की निर्विकल्प श्रद्धा करने से पूर्व वैसा विकल्प आता है, विकल्प से भी स्वीकार तो पूर्ण का ही है।

आत्मा को सिद्ध समान पूर्ण न मानकर, क्षणिक विकारवाला

www.vitragvani.com

माने, उसे तो जीवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं होती। जो विकल्प से भी मन द्वारा भी परिपूर्ण जीवतत्त्व को नहीं जानता, उसे विकल्प तोड़कर उसके अनुभवरूप परमार्थश्रद्धा तो कैसे होगी? नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा, वह भी पुण्य है, धर्म नहीं है तो फिर बाहर की क्रिया में तो धर्म होगा ही कैसे? अरे! अन्दर के अलौकिक स्वानुभव का मार्ग लक्ष्य में तो ले!

जिस प्रकार मक्खी कफ को खाने जाती है तो उसकी चिकनाहट में चिपट जाती है; इसी प्रकार अज्ञानी जीव, अनादि से चैतन्य को भूलकर इन्द्रिय-विषयों की रुचि करके उसमें ही तल्लीन हो जाता है परन्तु किञ्चित् निवृत्ति लेकर, 'अरे! मैं कौन हूँ, यह संसार परिभ्रमण कैसे मिटे?' इस प्रकार जीवादि तत्त्वों का विचार नहीं करता। अभी नव तत्त्व के विचार में भी राग के प्रकार पड़ते हैं क्योंकि नव तत्त्वों का विकल्प एक साथ नहीं होता, अपितु क्रम-क्रम से होता है, इसलिए उसमें रागमिश्रित विचार है। पहले रागमिश्रित विचार से नव तत्त्वों का निर्णय करना, वह व्यवहारश्रद्धा है, वह भी अभी वास्तव में धर्म नहीं है किन्तु धर्म का आँगन है और नव तत्त्वों के विकल्प से रहित होकर एक अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेना, वह निश्चयश्रद्धा है, वही प्रथम धर्म है।

जिस प्रकार बहियों का लेखा देखे तो पूँजी का पता पड़ता है; इसी प्रकार सत्समागम से शास्त्र का अभ्यास, श्रवण-मनन करे तो जीव क्या-अजीव क्या? - इसका पता पड़ता है।

कोई कहता है कि 'हमारे जीवित रहते तो घरबार, व्यापार-धन्धा इत्यादि का बहुत काम होता है; इसलिए जीते-जी इन

www.vitragvani.com

सबसे भिन्न आत्मा की श्रद्धा नहीं हो सकती, परन्तु मरण के काल में कुछ करूँगा।' – वस्तुत: तो ऐसा कहनेवाले को तत्त्व की रुचि ही नहीं है, आत्मा को समझने की दरकार ही नहीं है। अरे भाई! अभी भी शरीर, पैसा इत्यादि समस्त पदार्थों से आत्मा भिन्न ही है, आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता, फिर भी मैं कर्ता हूँ – ऐसा मानता है, वह अज्ञानी है। यदि पर से भिन्न आत्मा की बात अभी नहीं समझता और समझने की रुचि भी नहीं करता तो मरण के काल में किस प्रकार करेगा?

मैं जीव हूँ और शरीरादि पदार्थ मुझसे भिन्न अजीव हैं; आत्मा उन शरीरादिक के कार्य नहीं करता, इतनी-सी बात भी जिसे नहीं जँचती, उसे जीव-अजीवतत्त्व के पृथक्पने का भान भी नहीं है।

प्रश्न – आत्मा, व्यवहार से तो पैसा इत्यादि प्राप्त कर सकता है न?

उत्तर – ऐसा नहीं है। पैसा जड़ है, उस जड़ के आने-जाने की अवस्था, उसके कारण होती है; आत्मा, व्यवहार से भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मा उन्हें प्राप्त कर सकता है – ऐसा मानना तो व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है। 'इसने पैसा प्राप्त किया, इसने ऐसा किया और यह प्राप्त किया' – ऐसा बोला जाता है परन्तु वह कहीं वस्तुस्वरूप नहीं है। नव तत्त्व का विचार करे तो वस्तुस्वरूप ख्याल में आता है और बहुत-सी भ्रमणाएँ मिट जाती हैं।

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा, दिव्यध्वनि में फरमाते हैं कि हे जीव! तू धीरजवान हो, जरा शान्त हो; तुझे आत्मा का कल्याण करना हो, धर्म करना हो तो हम कहते हैं, तदनुसार जीव-अजीव

www.vitragvani.com

को भिन्न समझ। अभेद चैतन्यस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा करने के लिए प्रथम रागमिश्रित विचार से जीव-अजीव को भिन्न जानना, वह व्यवहारश्रद्धा है।

जीव और अजीव - ये दो तत्त्व मूलद्रव्य हैं, वे त्रिकाली हैं और शेष सातों तत्त्व, क्षणिक अवस्थारूप हैं। अवस्था में जो क्षणिक पुण्य-पाप होते हैं, वे जीव के त्रिकाली स्वभाव में से नहीं आये हैं तथा जड़ की क्रिया से भी नहीं हुए हैं। जीवद्रव्य में से पुण्य आया - ऐसा मानने से जीव और पुण्य तत्त्व अलग-अलग नहीं रहते और जड़ की क्रिया से पुण्य मानने पर अजीव और पुण्यतत्त्व अलग-अलग नहीं रहते। पुण्य तो क्षणिक अवस्था से होता है और जीवतत्त्व त्रिकाल है; इस प्रकार नव तत्त्वों को जाने बिना व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं होती।

त्रिकाली जीवद्रव्य के लक्ष्य से पुण्य-पाप उत्पन्न नहीं होते हैं और परवस्तु के कारण भी पुण्य-पाप नहीं होते, अपितु जीव की एक समयमात्र की अवस्था में अरूपी शुभाशुभ विकारीपरिणाम होते हैं, वह पुण्य-पाप है।

अब, पाँचवाँ आस्रवतत्त्व है। पहले पुण्य-पापतत्त्व की अलग पहचान करायी थी और फिर आस्रवतत्त्व का वर्णन करते हुए, पुण्य-पाप दोनों को आस्रव में डाल दिया है; इसलिए पुण्य ठीक है और पाप ठीक नहीं है, इस प्रकार जो पुण्य-पाप में अन्तर मानता है, उसे आस्रवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। पुण्य और पाप दोनों विकार हैं, आस्रव हैं। पुण्य-पाप से रहित सिद्धसमान सदा पद मेरा - ऐसा विचारनेवाले ने व्यवहार से नव तत्त्व को स्वीकार किया है।

www.vitragvani.com

जिस प्रकार किसी के पास से उधार लिया हो, किन्तु अभी उसका उधार चुका न पाया हो, उससे पहले तो वह उधार पूरा-पूरा चुकाना है - यह स्वीकार करे तो वह व्यवहार में साहूकार हुआ है और जब सारा उधार चुका दे, तब वास्तविक साहूकार हुआ कहा जाता है। इसी प्रकार चैतन्यद्रव्य की अखण्ड निधि सिद्ध समान है, अनन्त गुणों का भण्डार है, उसमें एकाग्र होकर, उसका अनुभव करनेरूप उधार चुकाने से पहले उसकी व्यवहारश्रद्धा करना, वह व्यवहार में साहूकार है अर्थात् व्यवहारश्रद्धा है और फिर अखण्ड चैतन्यद्रव्य की प्रतीति करके, उसका अनुभव करना, वह परमार्थ से साहूकारी है अर्थात् परमार्थश्रद्धा है। ऐसे परिपूर्ण आत्मस्वभाव की श्रद्धा करने में क्रम नहीं होता। पूर्ण की श्रद्धा के पश्चात् चारित्र में क्रम पड़ता है।

जिसने पुण्य और पाप इन दोनों तत्त्वों को विकाररूप से समान नहीं जाना, किन्तु पुण्य ठीक है और पाप ठीक नहीं है - ऐसा भेद माना, उसने आस्रवतत्त्व को नहीं जाना। जैसे, तालाब में नदी का पानी बाहर से आता है; इसी प्रकार आत्मा में आस्रवभाव कहीं बाहर की क्रिया से नहीं आता, परन्तु पर्यायदृष्टि से जीव की अवस्था में आस्रवभाव, उस क्षण नये उत्पन्न हुए हैं। आस्रव, त्रिकाल जीवद्रव्य से नहीं हुआ तथा अजीवद्रव्य से भी नहीं हुआ है।

अहो! जब बहुत से लोगों को नव तत्त्व का भी भले प्रकार से पता नहीं है, तब उन्हें अन्तरस्वभाव की दृष्टि कैसे होगी? वे जीव तो आत्मा के भान बिना जैसे जन्मे थे, वैसे ही कौवे और कुत्ते की तरह अवतार पूरा करके, मरकर चले जाते हैं। उन्होंने जीवन में

www.vitragvani.com

हित के लिए कुछ अपूर्व नहीं किया है। बाहर में कुदेवादि की विपरीतमान्यता छोड़कर, यह सर्वज्ञदेव द्वारा कथित नव तत्त्वों को भलीभाँति जानें तो भी अभी धर्म की व्यवहार रीति में आया है, अभी परमार्थ धर्म की रीति तो इससे भी अलग है।

छठवाँ, संवरतत्त्व है। संवर, आत्मा की निर्मलपर्याय है। शरीर को संकुचित करके बैठ जाना, वह कोई संवर नहीं है। चैतन्य में एकाग्रता से सम्यग्दर्शन होता है, वह पहला संवर है। कोई यह मानता है कि पुण्य, क्षयोपशमभाव है और उससे संवर होता है तो यह मान्यता मिथ्या है। कर्म के उदय में जुड़ने से शुभवृत्ति का उत्थान होता है, वह पुण्य है; वह पुण्य, क्षयोपशमभाव नहीं है, अपितु उदयभाव है। पुण्य है, वह आस्रव है, वृत्ति का उत्थान है; यदि उसे उदयभाव नहीं कहेंगे तो किसे कहेंगे ? क्या अकेले पाप को ही उदयभाव कहना है ? पुण्य तथा पाप यह दोनों उदयभाव धर्म के कारण नहीं हैं। संवर तो पुण्य-पाप से रहित निर्मलभाव है, वह धर्म है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में एकाग्रता से ही संवर होता है - ऐसा संवरभाव, आत्मा में प्रगट होने से पूर्व उसकी प्रतीति करना, वह व्यवहारश्रद्धा है। जिसे ऐसा संवरभाव प्रगट हुआ हो, वही सच्चे गुरु होते हैं; जिन्हें ऐसा संवरभाव प्रगट नहीं हुआ हो, वह सच्चा गुरु नहीं कहलाता है। इसलिए संवरतत्त्व की पहचान में सच्चे गुरु की प्रतीति भी साथ ही आ जाती है। जिनमें संवरपना प्रगट नहीं हुआ हो - ऐसे अज्ञानियों का गुरुरूप से आदर करनेवाले जीव को संवरतत्त्व की श्रद्धा नहीं है और गुरु की पहचान भी नहीं है।

www.vitragvani.com

अहो! एक समय का संवर, वह मुक्ति प्रदाता है। ऐसे संवर के बदले जो जड़ की क्रिया में और पुण्य में संवर मनवाते हैं, वे सब कुदेव-कुगुरु हैं। वे कुगुरु, सच्चे धर्म के लूटनेवाले ठग हैं, उन्हें जो गुरुरूप में मानता है, वह जीव, धर्म के लूटेरों का पोषण करता है; अत: उसे धर्म नहीं हो सकता। जो पर से अथवा पुण्य से संवर होना नहीं मनवाते, अपितु आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से संवर मनवाते हैं और ऐसा संवर जिनकी आत्मा में प्रगट हुआ है - ऐसे गुरु को ही गुरुरूप से मानें, तब तो गुरु की अथवा संवरतत्त्व की श्रद्धा हुई कहलाती है। अभी यह सब तो व्यवहारश्रद्धा में आ जाता है।

अहो! जो सम्यक्त्व के पिपासु होते हैं, वे अन्तर में विचार करके इस जाति का ख्याल तो ज्ञान में करो! यह आत्मा की अन्दर की क्रिया है, इसके अतिरिक्त बाहर की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। पहले अन्तर में परमार्थस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी श्रद्धा करना, वह पहला संवर है और फिर चारित्रदशा प्रगट होने पर विशेष संवर होता है।

आत्मा पर का कुछ कर सकता है, पुण्य से संवर/धर्म होता है - ऐसा माननेवाले की तो व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है। जो ऐसे जीवों को गुरुरूप से मानकर आदर करता है, उस जीव को आत्मा के हित की कुछ भी दरकार नहीं है। मिथ्यात्व का सेवन तो सबसे बड़ा पाप है; शुद्ध चैतन्य की श्रद्धा करके उसमें स्थिर होना, वह संवर है। जिन्होंने स्वयं ऐसा संवर प्रगट किया हो और ऐसा ही संवर का स्वरूप बतलाते हों, वे ही सच्चे गुरु हैं। संवरभाव प्रगट

www.vitragvani.com

होने से पूर्व संवर का ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार समझने से ही नव तत्त्व की श्रद्धा हुई कहलाती है। इसके अतिरिक्त जो पुण्य से धर्म मनवानेवाले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता है, उसे नव तत्त्व की श्रद्धा भी नहीं है; इसलिए उसे तो व्यवहार धर्म भी प्रगट नहीं हुआ है, उसे आत्मा का परमार्थ धर्म होता ही नहीं।

अहो! यह नव तत्त्व की बात समझना अत्यन्त आवश्यक है। अन्तर में नव तत्त्व का ख्याल करे तो आत्मा में प्रकाश हो जाता है और मार्ग स्पष्ट हो जाता है। पूर्व के विपरीत प्रकारों के साथ इस बात का मेल नहीं खा सकता; अतः पूर्व की पकड़ छोड़कर, पूर्वाग्रह त्यागकर, मध्यस्थ होकर पात्रतापूर्वक विचार करे तो अन्तर में यह बात बैठ जाती है। यह बात समझे बिना आत्मा का कल्याण अथवा धर्म नहीं हो सकता है।

सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित नव तत्त्वों को रागमिश्रित विचार से मानने की भी जिसमें योग्यता नहीं है और कुगुरुओं के द्वारा कथित तत्त्वों को मानता है, उसे अभेद आत्मा के सन्मुख होकर परमार्थ श्रद्धा नहीं हो सकती। नव तत्त्व का विचार करने पर भेद पड़ते हैं और राग होता है; इसलिए वह व्यवहार श्रद्धा है। नव तत्त्वों के विचार एक समय में नहीं आते हैं क्योंकि वे तो अनेक हैं, उनमें एक तत्त्व के विकल्प के समय दूसरे तत्त्वों का विकल्प नहीं है; इसलिए नव तत्त्व के लक्ष्य से भेद और क्रम पड़ता है परन्तु निर्विकल्पदशा नहीं होती।

भूतार्थ आत्मा में एकपना है, वह एक समय में अखण्डरूप से प्रतीति में आता है और उसके लक्ष्य से ही निर्विकल्पदशा होती है

www.vitragvani.com

परन्तु ऐसी निर्विकल्पदशा के लिए आत्मसन्मुख होने से पूर्व नव तत्त्व के विचार आये बिना नहीं रहते हैं। जो नव तत्त्व के क्रम -विचार में भी जो नहीं आया है, उसे उस क्रमरूप विचारों को छोड़कर अक्रम आत्मस्वभाव की एकता की अनुभूति नहीं होती है।

प्रथम, नव तत्त्व की श्रद्धा करके, उन नव के भेदों का विचार छोड़कर अभेद चेतनद्रव्य की प्रतीति करने से सम्यग्दर्शनरूपी संवर धर्म प्रगट होता है। संवरतत्त्व की श्रद्धा में सच्चे गुरु कैसे होते हैं? - उनकी श्रद्धा भी आ जाती है। संवरतत्त्व को धारण करनेवाले ही सच्चे गुरु हैं। जो पुण्य को संवरतत्त्व मानते हैं अथवा देह की क्रिया को संवरतत्त्व मानते हैं, वे सच्चे गुरु नहीं हैं। इस प्रकार संवर इत्यादि तत्त्व को और सच्चे गुरु को पहचाने तब तो व्यवहारश्रद्धा होती है, वह पुण्यभाव है और उससे विरुद्ध कुदेव-कुगुरु को माने अथवा पुण्य को संवर माने तो उसमें मिथ्यात्व के पोषण का पापभाव है, उसे धर्म नहीं होता।

देखो, रोटी छोड़ दी, इसलिए मुझे उपवास अथवा संवर हुआ है - ऐसा माननेवाले को संवरतत्त्व के स्वरूप का पता नहीं है और जिसकी एक तत्त्व में भूल होती है, उसकी नव तत्त्वों में भूल होती है। सिद्धपरमात्मा के समान अपने आत्मस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें रागरहित स्थिरता, वह संवर-धर्म है - ऐसे संवर इत्यादि नव तत्त्व की विकल्परहित श्रद्धा, वह व्यवहारश्रद्धा है और नव तत्त्व के विकल्परहित होकर एक भूतार्थ स्वभावरूप आत्मा की प्रतीति और अनुभव करना, वह वास्तव में सम्यग्दर्शन है। वही प्रथम धर्म है। निश्चयसम्यग्दर्शन का यही मार्ग है। ●

www.vitragvani.com

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य - (4)

नव तत्त्व का ज्ञान, सम्यग्दर्शन का व्यवहार

जिसे सम्यक्त्व और आत्महित की वास्तविक जिज्ञासा जागृत हुई है, ऐसे जीव को संसार सम्बन्धी विषय-कषायों का तीव्र रस तो पहले ही छूट गया होता है, तदुपरान्त सम्यग्दर्शन के लिये प्रयत्न में अन्तर के व्यवहाररूप से उसे सर्वज्ञ द्वारा कथित नव तत्त्व का विचार होता है।

जिसे आत्मा की शान्ति और हितरूप कर्तव्य करना हो, उसे क्या करना? - यह बात चल रही है। प्रथम तो जीव-अजीव इत्यादि नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों मानना चाहिए। नव तत्त्वों को माने बिना, नव के विकल्प का अभाव होकर एकरूप वस्तुस्वभाव की दृष्टि नहीं होती और वस्तुस्वभाव की दृष्टि हुए बिना शान्ति अथवा हित नहीं होता।

नव तत्त्व हैं, वे पर्यायदृष्टि से हैं। नव तत्त्वों में अनेकता है, उस अनेकता के आश्रय से एक स्वभाव की प्रतीति नहीं होती तथा पर्यायदृष्टि में अनेकता है; इस बात को जाने बिना भी एकरूप स्वभाव की वस्तुदृष्टि नहीं होती। नव तत्त्व के विकल्प से एक अभेद आत्मस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान नहीं होता, परन्तु एक अभेद आत्मस्वभाव के सन्मुख ढलकर उसका श्रद्धा-ज्ञान करने से उसमें नव तत्त्वों का रागरहित सम्यग्ज्ञान आ जाता है। सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च को भले ही नव तत्त्व की भाषा नहीं आती हो, परन्तु उसके ज्ञान में से नव तत्त्व सम्बन्धी विपरीतता दूर हो गयी है।

www.vitragvani.com

पहले, राग की मन्दता होकर ज्ञान के क्षयोपशम में नव तत्त्व जैसे हैं, वैसा जानना चाहिए। उन्हें जाने बिना भेद का निषेध करके अभेद का अनुभव प्रगट नहीं हो सकता है।

नव तत्त्वों में जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व, वे त्रिकाल हैं, वे मूलद्रव्य हैं और शेष सात तत्त्व, क्षणिक अवस्थारूप हैं। पुण्य और पाप, उस क्षणिक अवस्था में होते हैं, वे विकारी अंश हैं। जीव में होनेवाले पुण्य-पाप, अस्रव तथा बन्ध - ये चारों तत्त्व, जीव की अवस्था का स्वतन्त्र विकार हैं। वह, त्रिकाली जीव के आश्रय से नहीं है तथा अजीव के कारण भी नहीं है। यदि त्रिकाली जीव के आश्रय से विकार होता हो, तब तो जीवतत्त्व और पुण्यादि तत्त्व भिन्न नहीं रहते और यदि अजीव के कारण विकार होता हो तो अजीवतत्त्व और पुण्यादिक तत्त्व भिन्न नहीं रहते; इस प्रकार नव तत्त्व भिन्न-भिन्न निश्चित नहीं होते; इसलिए नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों भिन्न-भिन्न पहचानना चाहिए।

भगवान आत्मा, अनन्त चेतनशक्ति का पिण्ड ध्रुव है; शरीर आदि अजीव से भिन्न है - ऐसे रागसहित विचार से निर्णय करने को जीवतत्त्व का व्यवहार निर्णय कहा जाता है। इस जगत् में अकेला जीवतत्त्व ही नहीं, परन्तु जीव के अतिरिक्त दूसरे अजीवतत्त्व भी हैं। जीव में उस अजीव का अभाव है परन्तु अजीवरूप से तो वे अजीवतत्त्व भूतार्थ हैं तथा चैतन्यतत्त्व का लक्ष्य छूटकर अजीव के लक्ष्य से क्षणिक अवस्था में पुण्य-पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व होता है। जो यह मानता है कि अजीवकर्म के कारण जीव को विकार होता है तो वस्तुत: उसने अजीव और

www.vitragvani.com

आस्रवादि तत्त्वों को एक माना है; इसलिए उसने नव तत्त्वों को स्वतन्त्र नहीं जाना है; अत: उसे नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं हुई है।

नव तत्त्वों में पुण्य, पाप और आस्रव - ये तीन कारण हैं और बन्ध, उनका कार्य है। कुदेव और कुगुरु - ये बन्धतत्त्व के नायक हैं। जो पुण्य से धर्म मनवाता है अथवा आत्मा, जड़ का कुछ कर सकता है - ऐसा मनवाता है, वह कुगुरु हैं। ऐसे कुगुरुओं को पुण्य, पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व के रूप में स्वीकार करके, उनका आदर छोड़नेवाले ने ही बन्धतत्त्व को माना कहा जाता है। कुगुरु, उन पुण्य, पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व के कर्ता हैं; इसलिए उन्हें उन पुण्य, पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व में जानना चाहिए। जो जीव, विकार में धर्म मनवानेवाले कुगुरुओं को सत्य मानता है, उनका आदर करता है, उसने आस्रव आदि तत्त्वों को संवर-निर्जरारूप मान लिया है। वस्तुत: उसने नव तत्त्वों को नहीं जाना है।

सम्यग्दर्शन तो एक चैतन्यतत्त्व के अवलम्बन से ही होता है। शुद्ध चैतन्यद्रव्य की प्रतीति करके उसके आश्रय से, एकाग्रता से ही संवर-निर्जरा होते हैं। पुण्य, उदयभाव है, उस उदयभाव से संवर-निर्जरा नहीं होने पर भी जो पुण्य को क्षयोपशमभाव मानता है और उसे संवर-निर्जरा का कारण मानता है तो इस मान्यता में विपरीतश्रद्धा है और विपरीतश्रद्धा अनन्त संसार का कारण है।

प्रश्न - थोड़ी-सी भूल की इतनी बड़ी सजा?

उत्तर - चैतन्यस्वभाव को विकार से लाभ मानना - यह छोटी-सी भूल नहीं है, अपितु महाभयङ्कर अपराध है। उसमें

www.vitragvani.com

भगवान और देव-गुरु का महा अनादर है। मिथ्यामान्यता द्वारा अनन्त गुण के पिण्ड चैतन्य की हत्या करके विकार से लाभ मानता है, वह महा-अपराधी है; मिथ्यात्व ही महापाप है। जिस प्रकार प्रतीदिन करोड़ों रुपये की आमदनीवाले बड़े राजा का इकलौता पुत्र हो और प्रात:काल राजगद्दी पर बैठने की तैयारी हुई हो, उस क्षण कोई उसका सिर काट दे तो वह कितना बड़ा अपराध है? इसी प्रकार चैतन्य राजा अनन्त गुण की सम्पदा का स्वामी है, उसमें से निर्मलदशा प्रगट हो - ऐसा उसका स्वभाव है। उस चैतन्य राजा की निर्मलानन्द प्रजा/पर्याय प्रगट होने के काल में, उसे विकार से लाभ मानकर निर्मल प्रजा को अर्थात् निर्मल परिणति को विपरीत मान्यता से हत्या कर दे, वह चैतन्य का महा-अपराधी है। उस चैतन्यतत्त्व के विरोध के फल में महादु:खरूप नरक-निगोददशा प्राप्त होती है। ऐसे दु:ख से छूटने का उपाय कैसे करना? यह विधि यहाँ सन्त करुणापूर्वक समझाते हैं।

नव तत्त्व में सातवाँ, निर्जरातत्त्व है। अन्तर में आत्मतत्त्व के अवलम्बन से निर्मलता की वृद्धि हो, अशुद्धता का अभाव हो और कर्म का खिरना हो - उसका नाम निर्जरा है। इसके अतिरिक्त देह की क्रिया में अथवा पुण्य में वास्तव में निर्जरा नहीं है। संवर -निर्जरा, वह धर्म है, मोक्ष का कारण है; वह आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है। इस प्रकार निर्जरातत्त्व को नहीं जानकर, पुण्य से निर्जरा होना माने अथवा जड़ की क्रिया से या रोटी नहीं खाने से निर्जरा होना माने तो उसे व्यवहार से भी नव तत्त्व का पता नहीं है; उसे सत्य विचार का उदय भी नहीं है।

निर्जरा तो शुद्धता है और पुण्य अशुद्धता है। अशुद्धता से

www.vitragvani.com

शुद्धता नहीं होती, फिर भी जो अशुद्धता से शुद्धता होना अर्थात् पुण्य से निर्जरा होना मानता है, उसने निर्जरा इत्यादि तत्त्वों को नहीं जाना है। नव तत्त्व के विकल्परहित चैतन्यद्रव्य के भानसहित एकाग्रता बढ़ने पर शुद्धता बढ़ती है, अशुद्धता मिटती है तथा कर्म खिरते हैं, वह निर्जरा है। जिसे ऐसा निर्जरातत्त्व प्रगट हुआ हो, उन्हें गुरु कहते हैं। संवर-निर्जरा - यह दोनों आत्मा की निर्मलपर्यायें हैं, धर्म है।

संवर-निर्जरा, वह मोक्ष का साधन है। ऐसे संवर-निर्जरा के फल में जिन्हें पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हुई है, वे देव हैं और वह संवर-निर्जरारूप साधकदशा जिन्हें वर्तती है, वे गुरु हैं तथा वह संवर-निर्जरारूप निर्मलभाव, स्वयं धर्म है। इस प्रकार नव तत्त्व की और देव-गुरु-धर्म की पहचान करना, वह व्यवहारश्रद्धा है।

'तप से निर्जरा होती है' - ऐसा शास्त्र में आता है, वहाँ लोग आहार छोड़ना, वह तप है और उससे निर्जरा हुई, बाह्य दृष्टि से ऐसा मान लेते हैं। वस्तुतः उन्हें तो तप क्या है और निर्जरा क्या है? इसका भी भान नहीं है। तप से निर्जरा होती है, यह बात सत्य है परन्तु उस तप का स्वरूप क्या है? बाह्यक्रिया से निर्जरा नहीं होती, परन्तु अन्तर में चैतन्यस्वरूप का भान करके, उसमें एकाग्र होने से सहज ही इच्छा का निरोध हो जाता है, वह तप है और उस तप से निर्जरा होती है।

सम्यक्रूप से चैतन्य का प्रतपन होना, वह तप है। जिसे चैतन्य का भान नहीं है, उसे वास्तविक तप नहीं होता। जो पुण्य से अथवा शरीर की क्रिया से संवर-निर्जरा मानता है, उसे तो, नौवें ग्रेवेयक जानेवाले मिथ्यादृष्टि जीव को जैसी नव तत्त्व की

www.vitragvani.com

व्यवहारश्रद्धा अनन्त बार होती है, वैसी व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। जो पुण्य को क्षयोपशमभाव मानता है और उसे धर्म का कारण मानता है, उसने पुण्यतत्त्व और धर्मतत्त्व को नहीं जाना है और उसे धर्म भी नहीं होता है।

आत्मा में शुद्धि की वृद्धि हुए बिना अपने-आप स्थिति पूर्ण होकर, फल देकर कर्मों का खिर जाना सविपाक निर्जरा है। वह निर्जरा तो सभी जीवों को प्रतिक्षण होती है, वह कहीं धर्म का कारण नहीं है तथा आत्मा के भान बिना ब्रह्मचर्य, दया इत्यादि के शुभभाव से किञ्चित् अकामनिर्जरा होती है, वह भी धर्म में नहीं गिनी जाती है; अपितु नव तत्त्व का भान करके एक स्वभाव के आश्रय से आत्मा में शुद्धता की वृद्धि, अशुद्धता की हानि और कर्मों का खिरना, वह सकामनिर्जरा है, जो कि मोक्ष का कारण है।

आठवाँ, बन्धतत्त्व है। विकारमात्र में जीव का बँध जाना अर्थात् अटक जाना, वह बन्धतत्त्व है। जीव को किसी पर के कारण बन्धन नहीं होता, परन्तु अपनी पर्याय, विकारभाव में रुक गयी है, वही बन्धन है। पुण्य-पाप के भावों से आत्मा मुक्त नहीं होता, अपितु बँधता है; इसलिए वे पुण्य-पाप, बन्धतत्त्व का कारण हैं; इसके बदले पुण्य को धर्म का साधन अथवा उसे अच्छा माननेवाला, बन्ध इत्यादि तत्त्वों का स्वरूप नहीं समझा है। दया, पूजादि शुभभाव अथवा हिंसा, चोरी आदि अशुभभाव - ये सब विकार हैं; इनके द्वारा आत्मा छूटता नहीं है, अपितु बँधता है।

पुण्य और पाप - ये दोनों भाव मलिनभाव हैं, बन्धनभाव हैं। अभी पुण्य करेंगे तो भविष्य में अनुकूल सामग्री प्राप्त होगी और

www.vitragvani.com

अच्छी सामग्री होगी तो धर्म होगा – ऐसा जिसने माना है, उसने वास्तव में पुण्य को बन्धतत्त्व में नहीं जाना है। वस्तुत: तो पुण्यभाव अलग वस्तु है और अजीव सामग्री अलग स्वतन्त्र वस्तु है। पुण्य और बाह्य सामग्री को मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जो इस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से इन्कार करता है, उसे भी पुण्यतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा नहीं है।

जीव को बाह्य अनुकूल सामग्री से धर्म करना अच्छा लगता है किन्तु वस्तुत: इस मान्यता में भी जीव और अजीव की एकत्वबुद्धि है। पहले भिन्न-भिन्न नव तत्त्वों को जाने बिना अभेद आत्मा की प्रतीति नहीं होती और उस प्रतीति के बिना धर्म नहीं हो सकता है।

त्रिकाली जीवतत्त्व के कारण बन्ध नहीं होता तथा अजीवतत्त्व के कारण भी जीव को बन्ध नहीं होता। बन्धतत्त्व उस त्रिकाली जीवतत्त्व से भिन्न है तथा अजीव से भी भिन्न है। भावबन्ध तो पर के लक्ष्य से होनेवाली क्षणिक विकारीवृत्ति है, वह बन्धतत्त्व त्रिकाली नहीं है, अपितु क्षणिक है। आत्मस्वभाव को चूककर जो मिथ्यात्वभाव होता है उसे, तथा आत्मभान के पश्चात् भी जो रागादिभाव होते हैं, उन्हें बन्धतत्त्व जाने और कुतत्त्वों के कहनेवाले कुदेव-कुगुरुओं को भी बन्धतत्त्व में जाने, तब बन्धतत्त्व को जाना कहा जाता है। श्री अरिहन्त भगवान के द्वारा कथित इन नव तत्त्वों को जो नहीं जानता और कुतत्त्वों को मानता है, उसने वास्तव में अरिहन्त भगवान को नहीं पहचाना है और वह अरिहन्त भगवान का भक्त नहीं है।

www.vitragvani.com

हे भाई! यदि तू यह कहता हो कि मैं अरिहन्त का भक्त हूँ, मैं अरिहन्त प्रभु का दास हूँ, तो श्री अरिहन्तदेव द्वारा कथित नव तत्त्वों को तो भलीभाँति जान और उनसे विरुद्ध कहनेवाले कुदेव-कुगुरु का सेवन छोड़! भगवान ने जिस प्रकार कहा, तद्नुसार नव तत्त्वों को व्यवहार से भी तू नहीं जाने तो तूने अरिहन्त भगवान को नहीं माना है और तू अरिहन्त भगवान का भक्त, व्यवहार से भी नहीं है। व्यवहार से भी अरिहन्त प्रभु का भक्त वह कहलाता है कि जो उनके द्वारा कथित नव तत्त्वों को जाने और उससे विरुद्ध कहनेवाले अन्य को माने ही नहीं।

देखो, नव तत्त्व को जानने में भी अनेकता का अर्थात् भेद का लक्ष्य है। उस भेद के लक्ष्य में रुके, तब तक व्यवहारश्रद्धा है परन्तु परमार्थश्रद्धा नहीं है। जब उस अनेकता के भेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेद स्वभाव की एकता के आश्रय से अनुभव करे, तब परमार्थ सम्यग्दर्शन होता है और तभी जीव अरिहन्तदेव का वास्तविक भक्त अर्थात् जिनेन्द्र का लघुनन्दन कहलाता है।

जीव स्वयं बन्धनभाव में अटकता है तो उसमें अजीव का निमित्तपना है। यदि अकेले चैतन्य में जीव के निमित्त बिना भी बन्धन होता हो, तब तो वह बन्धन, जीव का स्वभाव ही हो जाएगा। अकेले चैतन्य में स्वभाव से बन्धन नहीं होता, परन्तु चैतन्य की उपेक्षा करके अजीव के लक्ष्य में अटकने पर बन्धनभाव होता है। अवस्था में क्षणिक बन्धतत्त्व है। इस प्रकार उसे जानना चाहिए।

अरे! बहुत से जीव तो बाहर की धमाल में ही समय गँवा देते हैं परन्तु अन्तर में तत्त्व समझने की दरकार नहीं करते और समझने

www.vitragvani.com

के लिए निवृत्ति लेकर सत्समागम भी नहीं करते। इन्हें मनुष्यभव प्राप्त करने का क्या लाभ है ? अरे भगवान! अनन्त काल में सत् सुनने का और समझने का अवसर आया है; इसलिए आत्मा की दरकार करके समझ रे समझ! 'अभी नहीं, किन्तु बाद में करूँगा' – ऐसा वायदा करने में रूकेगा तो सत् समझने का अवकाश चला जाएगा और फिर अनन्त काल में भी ऐसा अवसर प्राप्त होना कठिन है। सन्तों का ऐसा योग प्राप्त होने पर भी यदि उनके सत्समागम में सत् की प्राप्ति का मार्ग नहीं प्राप्त किया तो तुझे क्या लाभ ?

अरे! लक्ष्मी तिलक करने आवे, तब मुँह धोने नहीं जाया जाता। इसी प्रकार यह सत् समझने का और चैतन्यलक्ष्मी प्राप्त करने का अवसर आया है; अपूर्व कल्याण प्राप्त करने का अवसर आया है। इस अवसर में 'बाद में करूँगा, बाद में करूँगा' – ऐसा नहीं होता। यदि इस काल में दरकार करके सत् को नहीं समझेगा तो पुनः ऐसा अवसर कब प्राप्त होगा ? इसलिए प्रथम, आत्मा का पिपासु होकर तत्त्वनिर्णय का उद्यम कर!

नव तत्त्वों में से जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा और बन्ध – इन आठ तत्त्वों का वर्णन हो गया है।

अब नौंवाँ, मोक्षतत्त्व है। अनन्त ज्ञान और आनन्दमय आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होना मोक्षतत्त्व है। जो ऐसे मोक्षतत्त्व को पहचानता है, वह सर्वज्ञदेव को पहचानता है; इसलिए वह कुदेवादि को नहीं मानता। जो कुदेवादि को मानता है, उसने मोक्षतत्त्व को नहीं जाना है। मोक्ष तो आत्मा की पूर्ण निर्मल रागरहित दशा है। उस मोक्षतत्त्व को जानने पर अरिहन्त और सिद्ध भगवान की भी प्रतीति होती है।

www.vitragvani.com

अभी तो अरिहन्त भगवान, अजीव वाणी के रजकणों का ग्रहण करते हैं और फिर सामनेवाले जीव की योग्यतानुसार उन रजकणों को छोड़ते हैं – इस प्रकार जो केवली भगवान को अजीव का ग्रहण-त्याग मानता है, उसने अरिहन्त को नहीं पहचाना है। जिसने अरिहन्त का स्वरूप नहीं जाना है, उसने मोक्षतत्त्व को भी नहीं जाना है; मोक्ष के उपाय को भी नहीं जाना है। वस्तुत: उसने नव तत्त्वों को ही नहीं जाना है और नव तत्त्वों को जाने बिना धर्म नहीं होता है।

प्रत्येक आत्मा का स्वभाव शक्तिरूप से अनन्त केवलज्ञान -दर्शन-सुख और वीर्य से परिपूर्ण है। उसका भान करके उसमें एकाग्रतापूर्वक जिन्होंने अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय प्रगट किया है, वे देव हैं और उन्हें ही मोक्षतत्त्व प्रगट हुआ है। ऐसी मुक्तदशा प्रगट होने के पश्चात् जीव का पुन: कभी अवतार नहीं होता।

अज्ञानी जीव, आत्मा के रागरहित स्वभाव को नहीं जानते और मन्दकषायरूप शुभराग को ही धर्म मान लेते हैं। उस शुभराग के फल में स्वर्ग का भव हो, वहाँ रहने की बहुत लम्बी स्थिति होने से अज्ञानी उसे ही मोक्ष मान लेते हैं तथा उस स्वर्ग में से पुन: दूसरा अवतार होता है; इस कारण अज्ञानी जीव, मोक्ष होने पर भी अवतार होना मान लेते हैं। जीव की मुक्ति होने के पश्चात् पुन: अवतार होना माननेवाले मोक्षतत्त्व को नहीं जानते हैं किन्तु बन्धतत्त्व को ही मोक्षरूप मान लेते हैं। अवतार का कारण तो बन्धन है, उस बन्धन का एक बार सर्वथा नाश हो जाने पर फिर से अवतार नहीं होता है।

www.vitragvani.com

आत्मा की पूर्ण चिदानन्ददशा हो गयी, इसका नाम मोक्षदशा है। वह मोक्षदशा होने पर फिर से अवतार अर्थात् संसार परिभ्रमण नहीं होता। वह मुक्त हुए परमात्मा किसी को जगत् का कार्य करने के लिए नहीं भेजते तथा जगत् के जीवों को दु:खी देखकर अथवा भक्तों का उद्धार करने के लिए स्वयं भी संसार में अवतार धारण नहीं करते, क्योंकि उन्हें रागादि भावों का अभाव है।

जगत् के जीवों को दु:खी देखकर भगवान अवतार धारण करते हैं – ऐसा माननेवाला भगवान अर्थात् मुक्तात्मा को रागी और पर का कर्ता मानता है; उसने मुक्तात्मा को नहीं पहचाना है। पुनर्भवरहित मोक्षतत्त्व को प्राप्त श्री सिद्ध और अरिहन्त परमात्मा, वे देव हैं; जो उन्हें नहीं पहचानता, उसे तो सच्चा पुण्य भी नहीं है।

अक्षय अविनाशी चैतन्यस्वभाव की पूर्णानन्ददशा, वह मोक्षतत्त्व है। उस दशा को प्राप्त करने के पश्चात् जीव को किसी की सेवा करना शेष नहीं रहता। पूर्ण ज्ञान-आनन्द दशा को प्राप्त अरिहन्त परमात्मा, शरीरसहित होने पर भी वीतराग हैं। उन्हें पूर्ण ज्ञान-आनन्द होता है; उन्हें शरीर में रोग नहीं होता, दवा नहीं होती, क्षुधा नहीं लगती; आहार नहीं होता, तथा वे किसी को वन्दन नहीं करते और उनका शरीर स्फटिक के समान स्वच्छ परमौदारिक हो जाता है; वे आकाश में पाँच हजार धनुष ऊपर विचरण करते हैं। जो ऐसे अरहन्त परमात्मा को नहीं मानता, उसने तो मोक्षतत्त्व को व्यवहार से भी नहीं जाना है।

श्री केवली भगवान को अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द

www.vitragvani.com

प्रगट हुआ है, वहाँ चार घातिकर्म तो क्षय हुए हैं और चार अघातिकर्म शेष रहे हैं परन्तु वे जली हुई रस्सी के समान हैं। जिस प्रकार जली हुई रस्सी बाँधने के काम नहीं आती; उसी प्रकार अवशेष चार घातिकर्म हैं, उससे कहीं अरिहन्त भगवान को क्षुधा अथवा रागादि नहीं होते - ऐसे अरिहन्त भगवान जीवन्मुक्त हैं और फिर वे परमात्मा, शरीररहित हो जाते हैं, वे सिद्ध हैं। जिन्हें उनकी पहचान होती है, उसे व्यवहार से नव तत्त्व की श्रद्धा हुई कही जाती है। नव तत्त्व में मोक्षतत्त्व की श्रद्धा करने से, उसमें अरिहन्त और सिद्ध की श्रद्धा भी आ जाती है।

इस प्रकार जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष - ऐसे नव तत्त्व अभूतार्थनय से अर्थात् व्यवहारनय से विद्यमान हैं। तात्पर्य यह है कि पर्यायदृष्टि से देखने पर वे नव तत्त्व विद्यमान हैं। उन नव तत्त्वों को जाने बिना चैतन्यतत्त्व की प्रतीति की सीढ़ियों पर नहीं जाया जा सकता। यदि नव तत्त्व के विकल्प में ही रुक जाए तो भी अभेद चैतन्य का अनुभव नहीं होता। अभेद चैतन्यस्वभाव के अनुभव के समय नव तत्त्व के विकल्प नहीं होते; इसलिए त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं, अविद्यमान हैं। त्रिकाली तत्त्व में नव तत्त्व के विकल्प रहा ही करें - ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से तो एक चैतन्यमूर्ति आत्मा ही प्रकाशमान है - ऐसे चैतन्य में एकता प्रगट हो, वह सम्यग्दर्शन है।

देखो! प्रथम, अभेद के लक्ष्य की ओर ढलने पर नव तत्त्व के विकल्प आते अवश्य हैं परन्तु जब तक उन नव तत्त्व के विकल्प

www.vitragvani.com

की ओर ही झुकाव रहा करे, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। नव तत्त्व के भेद का अवलम्बन छोड़कर, अभेद चैतन्य की तरफ ढलकर स्वानुभूतिपूर्वक प्रतीति प्रगट करना, वह नियम से सम्यग्दर्शन है।

नव तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, उनमें अनेकता है। उस अनेकता का लक्ष्य, राग का कारण है; इसीलिए इसे नियम से सम्यग्दर्शन नहीं कहा है। उन नव तत्त्वों में एकपना प्रगट करनेवाला शुद्धनय है। उस शुद्धनय से एकरूप आत्मा का अनुभव करना ही नियम से सम्यग्दर्शन है। 'भूतार्थनय से नव तत्त्वों में एकपना प्रगट करना' — इसका अर्थ यह है कि नव तत्त्वों के भेद का लक्ष्य छोड़कर भूतार्थनय से एकरूप आत्मा को लक्ष्य में लेना। भूतार्थनय में नव तत्त्व दिखाई नहीं देते, अपितु एकरूप ज्ञायक आत्मा ही दिखाई देता है। नव तत्त्वों के सन्मुख देखकर एकरूप ज्ञायकस्वभाव में एकपना नहीं होता; नव तत्त्वों के समक्ष देखने से तो राग की उत्पत्ति होती है। नव तत्त्वों के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद चैतन्य को शुद्धनय से जानने पर, नव तत्त्वों में एकपना प्रगट किया कहा जाता है।

भेदरूप नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों जाना, वहाँ तक तो आँगन आया है। उस आँगन में आने के पश्चात् अब वहाँ से आगे बढ़कर चैतन्यघर में जाने की और शुद्धस्वभाव की प्रतीति तथा अनुभव करने की यह बात है। तात्पर्य यह है कि अनादि का मिथ्यात्व मिटकर अपूर्व सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्रगट हो ? उसकी यह बात है। यहीं से धर्म की प्रथम शुरुआत होती है। नव तत्त्व तो अभूतार्थनय

www.vitragvani.com

से ही विद्यमान हैं। भूतार्थनय से अभेदस्वभाव में एकपना प्रगट करने पर वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। मैं ज्ञायक चैतन्य हूँ – ऐसे अन्तर में विद्यमान स्वभाव के आश्रय की दृष्टि से एक आत्मा का अनुभव होता है। शुद्धनय से ऐसा अनुभव होने पर अनादि का मिथ्यात्व मिटकर, अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और धर्म की शुरुआत होती है।

प्रश्न – नव तत्त्वों को अभूतार्थ कहा, किन्तु उसमें तो जीव तत्त्व भी आ गया; इसलिए जीवतत्त्व को भी अभूतार्थ कहा – यह किस प्रकार?

उत्तर – शुद्ध जीवतत्त्व है, वह तो भूतार्थ है परन्तु 'मैं जीव हूँ' – ऐसा जीव सम्बन्धी विकल्प उत्पन्न हो, वह अभूतार्थ है। उस विकल्प के द्वारा जीव को स्वभाव का अनुभव नहीं हो सकता; इसलिए मैं जीव हूँ – ऐसे जीव रागमिश्रित विकल्प को अथवा जीव के व्यवहार भेदों का जीवतत्त्व के रूप में वर्णन करके उन्हें यहाँ अभूतार्थ कहा है – ऐसा समझना चाहिए।

नव तत्त्वों में अनेकता है, उनके विचार में अनेक समय लगते हैं; एक समय में एक साथ नव तत्त्व के विचार नहीं होते। उन नव तत्त्वों के लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती है और अन्तर में चैतन्य की एकता का अनुभव एक समय में होता है। प्रथम, अभेद चैतन्यस्वभाव में अन्तर्मुख होकर श्रद्धा से चैतन्य में एकपना प्रगट करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय है, वह तो नव तत्त्व के भेद से आत्मा का अनेकपना प्रगट करता है। उस अनेकपना प्रगट करनेवाले नय से चैतन्य का एकपना/एकत्व प्राप्त नहीं होता और चैतन्य के

www.vitragvani.com

एकपने की प्राप्ति के बिना रागरहित आनन्द का अनुभव नहीं रहता, सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता।

भूतार्थनय नव तत्त्व के विकल्परहित चैतन्य का एकपना प्रगट करनेवाला है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। नव तत्त्वों की श्रद्धा, वह चैतन्य का एकपना प्रगट नहीं करती और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। नव तत्त्व की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन के व्यवहाररूप में स्थापित किया जाता है किन्तु उसके द्वारा अभेद स्वभाव में एकता नहीं होती। अभेदस्वभाव के आश्रय से ही आत्मा का एकपना प्राप्त होता है। अभेदस्वभाव के आश्रय से आत्मा में एकपना प्राप्त करना ही परमार्थ सम्यग्दर्शन है और वह प्रथम धर्म है। ●

अहा! दिगम्बर सन्तों की वाणी...

अहा! दिगम्बर सन्तों की वाणी पञ्चम काल के अत्यन्त अप्रतिबुद्ध श्रोताओं से कहती है कि **भाई! आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए अभी से शुरुआत कर दे।** समयसार की 38 वीं गाथा की टीका में कहा है कि विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर, दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप परिणत होकर जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ है, वह श्रोता / शिष्य कहता है कि कोई भी परद्रव्य, परमाणुमात्र भी मुझरूप भासित नहीं होता, जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूप होकर फिर से मोह उत्पन्न करे, क्योंकि निजरस से ही मोह को मूल से उखाड़कर, फिर से अंकुरित न हो — ऐसा नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

www.vitragvani.com

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य - (5)

भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन

आत्महित के पिपासु को आत्मा का वास्तविक स्वरूप शोधने के लिए नव तत्त्वों को भलीभाँति जानना चाहिए। उसमें अपने हित-अहित के कारणों का विभाजन करके, जिसके आश्रय से अपना हित प्रगट हो - ऐसे शुद्धात्मस्वभाव के सन्मुख अन्तर में झुकना ही सम्यग्दर्शन की अफर विधि है।

नव तत्त्व का यथार्थ वर्णन जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। इन नव तत्त्वों की पहचान करना, वह जैनदर्शन की श्रद्धा का व्यवहार है। नव तत्त्व की पहचान न हो, तब तक एकरूप आत्मा की श्रद्धा नहीं होती और यदि नव तत्त्व की पृथक्-पृथक् श्रद्धा के राग की रुचि में अटक जाए तो भी एक आत्मा की श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

नव तत्त्व को जाना कब कहा जाए? जब जीव को जीव जाने, उसमें दूसरे को नहीं मिलाएँ अर्थात् जीव, शरीर की क्रिया करता है - ऐसा नहीं मानें। अजीव को अजीव जाने। शरीर अजीव है। जीव के कारण उस अजीव का अस्तित्व नहीं मानें और उस अजीव की क्रिया को जीव की नहीं मानें।

पुण्य को पुण्यरूप में जानें, पुण्य से धर्म नहीं मानें तथा जड़ की क्रिया से पुण्य नहीं मानें; पाप को पापरूप जानें, वह पाप बाह्य क्रिया से होता है - ऐसा नहीं मानें। आस्रव को आस्रवरूप जानें, पुण्य और पाप दोनों आस्रव हैं, उन्हें संवर का कारण नहीं मानें पाप बुरा है, पुण्य भला है - ऐसा भेद परमार्थ से नहीं मानें।

www.vitragvani.com

संवरतत्त्व को संवररूप जानें। संवर वह धर्म है, पुण्य से अथवा शरीर की क्रिया से संवर नहीं होता, अपितु आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता से ही संवर होता है। निर्जरा अर्थात् शुद्धता की वृद्धि और अशुद्धता का नाश; उसे निर्जरा समझे। वह निर्जरा बाह्य क्रियाकाण्ड से नहीं होती, किन्तु आत्मा में एकाग्रता से होती है।

बन्धतत्त्व को बन्धरूप जाने। विकार में आत्मा की पर्याय का अटकना, वह भावबन्ध है। वास्तव में कर्म, आत्मा को बाँधते हैं अथवा परिभ्रमण कराते हैं - ऐसा नहीं मानें, किन्तु जीव अपने विकारभाव से बँधा है और इसी कारण परिभ्रमण कर रहा है - ऐसा समझे।

आत्मा की अत्यन्त निर्मलदशा, वह मोक्ष है - ऐसा जानें। इस प्रकार जानें, तब नव तत्त्वों को जाना हुआ कहा जाता है।

यह नव तत्त्व अभूतार्थनय का विषय है। अवस्थादृष्टि में नौ भेद हैं, उसकी प्रतीति करना, वह व्यवहारश्रद्धा है। उससे धर्म की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु पुण्य की उत्पत्ति होती है। इन नव तत्त्व की पहचान में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र तथा मिथ्या देव-गुरु-शास्त्र की पहचान भी आ जाती है। इन नव तत्त्वों का जानपना भी परमार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है। नव तत्त्व को जानने के पश्चात् सम्यग्दर्शन कब होता है ? यह बात आचार्यदेव इस गाथा में कहते हैं।

इन नव तत्त्वों में एकपना प्रगट करनेवाले भूतार्थनय से शुद्धनयरूप स्थापित आत्मा की अनुभूति, जिसका लक्षण आत्मख्याति है, उसकी प्राप्ति होती है; यह परमार्थ सम्यग्दर्शन की

www.vitragvani.com

विधि है। व्यवहारश्रद्धा में नव तत्त्व की प्रसिद्धि है परन्तु परमार्थश्रद्धा में तो अकेले भगवान आत्मा की ही प्रसिद्धि है। नव तत्त्व के विकल्प से पार होकर, एकरूप ज्ञायकमूर्ति का अनुभव करनेवाले ने भूतार्थनय से नव तत्त्वों को जाना हुआ कहा जाता है और वही नियम से सम्यग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना, किसी भी प्रकार से जीव के भवभ्रमण का अन्त नहीं आ सकता है।

जीव और अजीव, ये मूल तत्त्व हैं और शेष सात तत्त्व इनके निमित्त से उत्पन्न हुई पर्यायें हैं; इस प्रकार कुल नव तत्त्व हैं, वे अभूतार्थनय से हैं। भूतार्थनय से उनमें एकपना प्रगट करने से ही अर्थात् शुद्ध एकरूप आत्मा को लक्ष्य में लेने से ही सम्यग्दर्शन होता है। नव तत्त्वों को सम्यग्दर्शन का विषय कहना, वह व्यवहार का कथन है। वास्तव में सम्यग्दर्शन का विषय भेदरूप नहीं, किन्तु अभेदरूप ज्ञायक आत्मा ही है। मोक्षशास्त्र में **तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्** - ऐसा कहा है। वहाँ भी वास्तव में नौ का लक्ष्य छोड़कर, एक चैतन्यतत्त्व के सन्मुख ढलने पर ही सच्चा तत्त्वश्रद्धान कहलाता है।

अखण्ड चैतन्य वस्तु का आश्रय करने पर भूतार्थनय से एकपना प्राप्त होता है। जिसमें निमित्त की अपेक्षा नहीं है और भेद का विकल्प नहीं है - ऐसे त्रिकाल शुद्धस्वभाव के सन्मुख झुककर अनुभव करने से चैतन्य का एकपना प्राप्त होता है और उस अनुभव में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है, वह सम्यग्दर्शन है। इसके अतिरिक्त देव-गुरु इत्यादि निमित्त के आश्रय से तो सम्यग्दर्शन नहीं होता; दया, पूजादि के भावरूप पुण्य से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता और नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा से भी

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन नहीं होता। नव तत्त्वों का भलीभाँति विचार भी अभी तो पुण्य है। जड़-शरीर की क्रिया से आत्मा को धर्म होता है - ऐसे माननेवाले को तो जीव-अजीवतत्त्व की भिन्नता की श्रद्धा भी नहीं है अथवा 'शुभभाव से पुण्य हुआ, वह अब आत्मा को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में मदद करेगा' - ऐसी समस्त मान्यताएँ मिथ्या हैं। ऐसी मान्यतावाले को तो नव तत्त्व में से पुण्यतत्त्व का भी पता नहीं है, उसे तो शुद्ध आत्मा का अनुभव ही नहीं होता है।

पहले तो सत्समागम में श्रवण-मनन करके नव तत्त्वों को जानें, तत्पश्चात् उसमें भूतार्थनय से एकपना प्राप्त कर सकें, तब सम्यग्दर्शन होता है। भेद के लक्ष्य से नव तत्त्व की भिन्न-भिन्न श्रद्धा करने में अनेकपना है, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है। नव तत्त्व व्यवहारनय का विषय है, उस व्यवहारनय के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता; इस प्रकार लक्ष्य में लेकर जिसने नव तत्त्व का ज्ञान करने में भी चैतन्य की रुचि की है, उसे फिर नव तत्त्व के विकल्परहित होकर अभेद आत्मा की प्रतीति करने से निश्चयसम्यग्दर्शन होता है। ऐसा निश्चयसम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से ही होता है और वहीं से अपूर्व आत्मधर्म का प्रारम्भ होता है। ऐसे निश्चयसम्यग्दर्शन के बिना चौथा गुणस्थान अथवा धर्म की शुरुआत नहीं होती है।

यह सब समझने के लिए सत्समागम से अभ्यास करना चाहिए। पहले संसार की तीव्र लोलुपता को घटाकर सत्समागम का समय लेकर आत्मस्वभाव का श्रवण-मनन और रुचि किये बिना अन्तरोन्मुख किस प्रकार होगा?

प्रथम, नव तत्त्व का निर्णय किया, उसमें भी जीव तो आ ही

www.vitragvani.com

जाता है परन्तु उसमें विकल्पसहित था; इसलिए वह जीवतत्त्व अभूतार्थनय का विषय था और यहाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए भूतार्थनय से विकल्परहित होकर एक अभेद आत्मा की श्रद्धा करने की बात है। भूतार्थनय के अवलम्बन से शुद्ध आत्मा को लक्ष्य में लेने के अतिरिक्त व्यवहारनय के आलम्बन में चैतन्य का एकपना प्रगट करने की सामर्थ्य नहीं है।

अभूतार्थनय से देखने पर नव तत्त्व दिखते हैं परन्तु भूतार्थनय से तो एक आत्मा ही शुद्धज्ञायकरूप प्रकाशवान है। शुद्धनय से स्थापित एक आत्मा की ही अनुभूति, वह सम्यग्दर्शन है। यद्यपि अनुभूति तो ज्ञान की स्व-सन्मुख पर्याय है परन्तु उस अनुभूति के साथ सम्यग्दर्शन नियम से होता है; इसलिए यहाँ अनुभूति को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है।

व्यवहार में नव तत्त्व थे, उनके लक्षण जीव-अजीव आदि नव थे और इस शुद्धनय के विषय में एकरूप आत्मा ही है; उसमें नव की प्रसिद्धि नहीं, किन्तु चैतन्य का एकपना ही प्रसिद्ध है - ऐसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति का लक्षण आत्मख्याति है। इस अनुभूति में विकल्प की प्रसिद्धि नहीं, किन्तु आत्मा की प्रसिद्धि है। जीव-अजीव के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को लक्ष्य में लेकर देखने से नव तत्त्व हैं अवश्य; उन्हें व्यवहारनय स्थापित करता है परन्तु भूतार्थनय/शुद्धनय तो एक अभेद आत्मा को ही स्थापित करता है। जीव-अजीव के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर भी वह लक्ष्य नहीं करता। आत्मा त्रिकाल एकरूप सिद्धसमान मूर्ति है - ऐसे आत्मा की श्रद्धा करना, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन है, उसमें भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

www.vitragvani.com

यद्यपि देव-गुरु-शास्त्र की ओर के लक्ष्य से आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती, तथापि जिसे देव-गुरु-शास्त्र की पहचान में भी विपरीतता हो, वह तो सम्यग्दर्शन से अत्यन्त दूर है। अभी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भी जिसे पहचान नहीं है, नव तत्त्व की श्रद्धा का भी पता नहीं है, उसे तो व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है, उसकी तो यहाँ बात नहीं है परन्तु कोई जीव, नव तत्त्व को जानने में ही रुक जाए और नव का लक्ष्य छोड़कर एक आत्मसन्मुख न हो तो उसे भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है। नव तत्त्व की श्रद्धा बीच में आती है, उसे व्यवहारश्रद्धा कब कहते हैं? यदि नव के विकल्प का आश्रय छोड़कर, भूतार्थ के आश्रय से आत्मा की ख्याति करे, आत्मा की प्रसिद्धि करे, आत्मा की अनुभूति करे तो नव तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारश्रद्धा कहते हैं। अभेद आत्मा की श्रद्धा करके, परमार्थ श्रद्धा प्रगट करे तो नव तत्त्व की श्रद्धा पर व्यवहारश्रद्धा का उपचार आता है; वरना निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? निश्चयरहित व्यवहार को तो व्यवहाराभास कहते हैं।

श्री आचार्यदेव ने इस टीका का नाम आत्मख्याति रखा है। आत्मख्याति अर्थात् आत्मा की प्रसिद्धि। एकरूप शुद्ध आत्मा की प्रसिद्धि करना, अनुभूति करना, वह इस टीका का मुख्य प्रयोजन है। इस ग्रन्थ में नव तत्त्व का वर्णन आयेगा अवश्य, परन्तु उसमें मुख्यता तो एकरूप शुद्ध आत्मा की ही बतलाना है। इस प्रकार आचार्यदेव के कथन में शुद्ध आत्मा की मुख्यता है; इसलिए श्रोताओं को भी अन्तर में एकरूप शुद्ध आत्मा को लक्ष्य में पकड़ने की मुख्यता रखकर श्रवण करना चाहिए। बीच में विकल्प और भेद का वर्णन आवे तो भी उसकी मुख्यता करके नहीं अटकते हुए

www.vitragvani.com

शुद्ध आत्मा को ही मुख्य करके लक्ष्य में लेना चाहिए। नव तत्त्व को जानने का प्रयोजन तो आत्मस्वभाव के सन्मुख होना ही है।

नव तत्त्व में जीव को वास्तव में कब माना कहलाये ? नव के भेद की सन्मुखता छोड़कर एकरूप जीवस्वभाव के सन्मुख ढले तो जीव को माना कहलाये। आस्रव-बन्धतत्त्व को कब माना कहलाये ? जब उनके अभावरूप आत्मस्वभाव को माने तो आस्रव बन्ध को माना कहलाये। संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व को कब माना कहलाये ? जब स्वभावसन्मुख ढलकर आंशिक संवर-निर्जरा प्रगट करे तो संवरादि को माना कहलाये। इस प्रकार नव तत्त्व को जानकर, यदि अभेद आत्मा की ओर ढले तो ही नव तत्त्व को वास्तव में जाना कहा जाता है। यदि अभेद आत्मा की तरफ नहीं ढले और नव तत्त्वों के विकल्प में ही अटक जाए तो नव तत्त्व को वास्तव में जाना - ऐसा नहीं कहा जाता।

नव तत्त्व के विकल्प भी अभेद आत्मा के अनुभव में काम नहीं आते। पहले नव तत्त्व सम्बन्धी विकल्प होते हैं परन्तु अभेद आत्मा का अनुभव करने पर वे विकल्प मिट जाते हैं, नव तत्त्व का ज्ञान रह जाता है परन्तु एकरूप आत्मा के अनुभव के समय नव तत्त्व के विकल्प नहीं होते हैं। जब ऐसा अनुभव प्रगट हो, तब चौथा गुणस्थान अर्थात् धर्म की पहली सीढ़ी कहलाता है। इसके अतिरिक्त बाह्य क्रिया से अथवा पुण्य से धर्म की शुरुआत नहीं होती।

यहाँ बाह्य क्रिया की तो बात ही नहीं है। अन्तर में नव तत्त्व का विचार करना भी अभेदस्वरूप के अन्तर अनुभव में ढलने के लिए काम नहीं आता। अभेद आत्मा में ढलना, वह नव तत्त्व के

www.vitragvani.com

जानने का प्रयोजन है; इसलिए यदि विकल्प तोड़कर आत्मा में एकाग्र हो तो नव तत्त्व को जाना कहा जाता है।

बन्धतत्त्व को जाना कब कहा जाता है ? जब उससे पृथक् हो तब। 'यह बन्ध है, यह बन्ध है' – इस प्रकार रटा करे, परन्तु यदि बन्धन से पृथक् नहीं हो तो वास्तव में बन्ध को जाना नहीं कहा जाता। इसी प्रकार नव तत्त्व को जानना कब कहा जाता है ? यदि नव तत्त्व के सन्मुख ही देखा करे तो नव तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता और आत्मा का ज्ञान भी नहीं होता। यदि आत्मस्वभाव के सन्मुख झुके तो ही नव तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान हुआ कहा जाता है क्योंकि आत्मा की ओर ढलनेवाले ज्ञान में ही स्व-पर को जानने की सामर्थ्य होती है।

अजीव की ओर देखते रहने से अजीव का सच्चा ज्ञान नहीं होता, परन्तु जीव और अजीव भिन्न हैं – ऐसा समझकर अभेद चैतन्यमूर्ति शुद्ध आत्मा की ओर ढलने से स्व-पर प्रकाशक ज्ञान खिलता है। वह ज्ञान अजीवादि को भी जानता है। ज्ञान तो आत्मा का है; ज्ञान कहीं नव तत्त्वों के विकल्प का नहीं है, विकल्प से तो ज्ञान भिन्न है। ज्ञान तो आत्मा का होने पर भी यदि वह ज्ञान आत्मा की ओर ढलकर आत्मा के साथ एकता नहीं करे और राग के साथ एकता करे तो वह ज्ञान स्व-पर को यथार्थ नहीं जान सकता अर्थात् वह मिथ्याज्ञान है, अधर्म है।

राग के आश्रय बिना ज्ञायक का अनुभव करने को आत्मख्याति कहते हैं और वह सम्यग्दर्शन है, वहाँ से धर्म का प्रारम्भ होता है। यहाँ दृष्टि में परिपूर्ण आत्मा का स्वीकार हुआ है, आँशिक वीतरागता

www.vitragvani.com

भी हुई है और अभी पूर्ण वीतरागता प्रगट करने का काम शेष है, वह श्रद्धा के बल से अल्प काल में पूरा कर लेगा।

चौथे गुणस्थान में सम्यक् आत्मभान होने पर दृष्टि में पूरा स्वरूप आ गया है; इसीलिए श्रद्धा से तो कृतकृत्यता हो गयी है परन्तु अभी आत्मा को केवलज्ञानरूप विकास नहीं हुआ है, वीतरागपना नहीं हुआ है। मैं त्रिकाल-चैतन्यस्वरूप जीवद्रव्य हूँ, अजीवतत्त्व मुझसे भिन्न हैं और दूसरे सातों तत्त्व हैं, वे क्षणिक हैं; इस प्रकार धर्मी को भी नव तत्त्व के भेद का विकल्प आता है परन्तु धर्मी को उस विकल्प में एकताबुद्धि नहीं है; इसलिए विकल्प की मुख्यता नहीं है किन्तु अभेद चैतन्य की ही मुख्यता है और आत्मा में एकाग्र होकर वीतराग होने पर वैसे विकल्प होते ही नहीं हैं।

देखो, यह आत्मकल्याण के लिए अपूर्व बात है। यह कोई दूसरों के लिए नहीं, किन्तु मेरे लिए ही है - ऐसा सुलटा होकर स्वयं अपने ऊपर घटित न करे तो उस जीव को समझने की दरकार नहीं है और उसे आत्मा की यह बात अन्तर में समझ में नहीं आयेगी। इसलिए आत्मार्थी जीवों को अन्तर में अपने आत्मा के साथ इस बात का मिलान करना चाहिए।

अहो! इस गाथा में भगवान कहते हैं कि **भूयत्थेण अभिगदा...** नव तत्त्वों को भूतार्थ से जानना, वह सम्यग्दर्शन है। वास्तव में भूतार्थनय के विषय में नव तत्त्व हैं ही नहीं; नव तत्त्व तो अभूतार्थनय का विषय है। भूतार्थनय का विषय तो अकेला ज्ञायक आत्मा ही है। जो एक शुद्ध ज्ञायक की ओर झुका, उसे नव तत्त्व का ज्ञान यथार्थ हो गया। एक चैतन्यतत्त्व को भूतार्थ से जानने से

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन होता है – यह सम्यग्दर्शन का नियम कहा है। नव तत्त्व के विकल्प, वे कोई नियम से सम्यग्दर्शन नहीं हैं। वे विकल्प हों, तब सम्यग्दर्शन हो भी अथवा न भी हो; इसलिए वहाँ सम्यग्दर्शन होने का नियम नहीं कहा। जबकि जहाँ भूतार्थस्वभाव का आश्रय होता है, वहाँ तो सम्यग्दर्शन नियम से होता ही है; इसलिए वहाँ सम्यग्दर्शन का नियम कहा है।

अब, जो नव तत्त्व कहे हैं, उनमें पर्यायरूप सात तत्त्वोंरूप एक जीव और दूसरा अजीव – इन दोनों का स्वतन्त्र परिणमन बतलाते हैं। जीव और अजीव तो त्रिकाली तत्त्व हैं, उनकी अवस्था में जीव की योग्यता और अजीव का निमित्तपना – ऐसे निमित्त –नैमित्तिक सम्बन्ध से पुण्य–पाप इत्यादि सात तत्त्व होते हैं। वहाँ विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला – यह दोनों पुण्य हैं तथा यह दोनों पाप हैं; उनमें एक जीव है और दूसरा अजीव है। तात्पर्य यह है कि विकारी होने योग्य जीव है और विकार करनेवाला अजीव है। जीव के विकार में अजीव निमित्त है; इसलिए यहाँ अजीव को विकार करनेवाला कहा है – ऐसा समझना चाहिए।

जीव स्वयं ही विकारी होने योग्य है; कोई दूसरा उसे बलजोरी से विकार कराता है – ऐसा नहीं है। जीव सर्वथा कूटस्थ अथवा सर्वथा शुद्ध नहीं है परन्तु पुण्य–पापरूप विकारी होने की योग्यता उसकी अवस्था में है और उस योग्यता में अजीव निमित्त है। अजीव को विकार करनेवाला कहा, इसका अर्थ यह है कि वह निमित्त है – ऐसा समझना चाहिए। जीव की योग्यता है और अजीव निमित्त है। जब जीव में अपनी योग्यता से ही विकार होता है, तब निमित्तरूप में अजीव को विकार करानेवाला कहते हैं परन्तु

www.vitragvani.com

यदि जीव में विकार की योग्यता न हो तो अजीव उसे विकार नहीं कराता।

जीव की योग्यता से विकार होता है, वह जीवपुण्य-पाप है और उसमें निमित्त अजीव है, वह अजीवपुण्य-पाप है; इस प्रकार जीव और अजीव दोनों का स्वतन्त्र परिणमन है। इसी तरह सातों तत्त्वों में एक जीव और दूसरा अजीव है - ऐसे दो-दो प्रकार यहाँ लेंगे।

जीव और अजीव ये दो तो स्वतन्त्र त्रिकाली तत्त्व हैं और इन दोनों की अवस्था में सात तत्त्वरूप परिणमन किस प्रकार है? - वह बतलाते हैं। देखो, यह सब भी अभी तो नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा है। पुण्य और पाप, दोनों विकार हैं। विकारी होने का जीव का त्रिकालीस्वभाव नहीं है परन्तु अवस्था की योग्यता है और उसमें अजीव निमित्त है। जीव में पुण्य-पाप होते हैं, यदि वे अजीव के निमित्त बिना ही होते हों तो वह जीव का स्वभाव ही हो जाएगा और कभी मिटेगा ही नहीं। इसी प्रकार यदि निमित्त के कारण विकार होता हो तो जीव की वर्तमान अवस्था की योग्यता स्वतन्त्र नहीं रहेगी और जीव उस विकार का अभाव नहीं कर सकेगा; इसलिए यहाँ उपादान-निमित्त दोनों की एक साथ पहचान कराते हैं।

जैसे, कम-ज्यादा पानी के संयोगरूप निमित्त के बिना अकेले आटे में 'यह रोटी का आटा, यह पूड़ी का आटा अथवा यह भाखरी का आटा है' - ऐसे भेद नहीं पड़ते। वहाँ आटे की वैसी योग्यता है और उसमें पानी का निमित्त भी है। इसी प्रकार चैतन्य भगवान

www.vitragvani.com

आनन्दमूर्ति एकरूप है, उसमें पर-संयोग अर्थात् कर्म के निमित्त के बिना अकेले स्वयं से ही पुण्य-पाप इत्यादि सात भेद नहीं पड़ते। उन सात तत्त्वों की योग्यता तो जीव में स्वयं में ही है परन्तु उसमें अजीव का निमित्त भी है; अजीव की अपेक्षा बिना अकेले जीवतत्त्व में सात प्रकार नहीं पड़ते। जीव ने अपनी योग्यता से पुण्य-परिणाम किया है, वह जीवपुण्य है और उसमें जो कर्म निमित्त है, वह अजीवपुण्य है; दोनों में अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता है। अजीव में जो पुण्य होता है, वह जीव के कारण नहीं होता और जीव में जो पुण्यभाव होता है, वह अजीव के कारण नहीं होता। वर्तमान एक समय में दोनों एक साथ हैं, उसमें जीव की योग्यता और अजीव का निमित्त - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित इन नव तत्त्वों को समझे तो स्थूल विपरीतमान्यताओं का तो अभाव हो ही जाता है। नव तत्त्व को माननेवाला जीव, ईश्वर को कर्ता नहीं मानता; वस्तु को सर्वथा कूटस्थ अथवा क्षणिक नहीं मानता। नव तत्त्व को माने तो जीव का परिणमन भी मानेगा; इसलिए जीव को कूटस्थ नहीं मान सकता तथा अजीव को भी कूटस्थ नहीं मान सकता। जगत् में भिन्न-भिन्न अनेक जीव-अजीव द्रव्य माने, एक द्रव्य में अनेक गुण माने, उनका परिणमन माने, उसमें विकार माने और उसे अभाव करने का उपाय है - ऐसा जानें, तभी नव तत्त्व को माने कहा जा सकते हैं। जो नव तत्त्व को मानता है, वह जगत् में एक कूटस्थ सर्वव्यापी ब्रह्म ही है - ऐसा नहीं मान सकता। सम्यग्दर्शन प्रगट करने की तैयारीवाले जीव को प्रथम, नव तत्त्व की ऐसी श्रद्धारूप आँगन आता है।

यहाँ श्री आचार्यदेव ने सातों तत्त्वों में जीव की योग्यता की

www.vitragvani.com

बात कही है। जीव की वर्तमान पर्याय की योग्यता से ही पुण्य होता है। पुण्य के असंख्य प्रकार हैं, उसमें भगवान के दर्शन के समय अमुक प्रकार का शुभभाव होता है; शास्त्र श्रवण के समय अमुक जाति का शुभभाव होता है और दया-दान इत्यादि में अमुक प्रकार का शुभभाव होता है - ऐसा क्यों? क्या निमित्त के कारण वैसे प्रकार पड़ते हैं? तो कहते हैं कि नहीं; उस-उस समय की जीव की विकारी होने की योग्यता ही उस प्रकार की है। इतना स्वीकार करनेवाले को तो अभी पर्यायदृष्टि से अर्थात् व्यवहारदृष्टि से अथवा अभूतार्थदृष्टि से जीव को तथा पुण्यादि तत्त्व को स्वीकार किया कहा जाता है; परमार्थ में तो यह नव तत्त्व के विकल्प भी नहीं हैं।

मिथ्यात्व तथा हिंसादि भाव, वह पापतत्त्व है, उसमें भी पापरूप होने योग्य और पाप करनेवाला - यह दोनों जीव और अजीव हैं अर्थात् पापभाव होता है, उसमें जीव की योग्यता है और अजीव निमित्त है। पुण्य और पाप दोनों विकार हैं, इसलिए 'विकारी होने की योग्यता' में ही पुण्य और पाप दोनों ले लिये हैं। निमित्त के बिना वे नहीं होते और निमित्त के कारण भी नहीं होते। जीव की योग्यता से ही होते हैं और अजीव निमित्त हैं। 'योग्यता' कहने पर उसमें यह सभी न्याय आ जाते हैं।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव, विकार को अपना स्वरूप नहीं मानते; फिर भी उनको विकार होता है, वहाँ चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के कारण सम्यग्दृष्टि को विकार होता है - ऐसा नहीं है परन्तु उस भूमिका में रहनेवाले जीव के परिणाम में ही पुण्य अथवा पाप होने की उस प्रकार की योग्यता है, उसमें अजीव कर्म तो निमित्तमात्र है।

मिथ्यात्व के पाप में, मिथ्यात्वकर्म का उदय निमित्त है परन्तु

www.vitragvani.com

जिस जीव को मिथ्यात्व का पाप हुआ, वहाँ उस जीव की पर्याय में ही वैसी योग्यता है। यद्यपि मिथ्यात्वकर्म के कारण, मिथ्यात्व नहीं हुआ है, तथापि मिथ्यात्वादि भाव में अजीव कर्म निमित्त न हो - ऐसा भी नहीं होता है। अकेले (जीव) तत्त्व में पर की अपेक्षा बिना विकार नहीं होता है। यदि अकेले (जीव) तत्त्व में परलक्ष्य के बिना विकार होता हो, तब तो वह विकार, स्वभाव ही हो जाएगा।

यहाँ जीव को अपनी योग्यता में रागादि बढ़ते-घटते हैं अर्थात् पुण्य-पाप इत्यादि की हीनाधिकता होती है तो उसके निमित्तरूप सामने अजीव में भी हीनाधिकता माननी पड़ेगी। वह हीनाधिकता अनेक द्रव्य के बिना नहीं हो सकती है; इसलिए पुद्गल में संयोग -वियोग, स्कन्ध इत्यादि मानना पड़ेगा। जैसे, यहाँ जीव के उपादान की योग्यता में अनेक प्रकार पड़ते हैं; उसी प्रकार सामने निमित्तरूप अजीवकर्म में भी अनेक प्रकार पड़ते हैं। ऐसा होने पर भी कोई द्रव्य किसी द्रव्य का शत्रु तो है ही नहीं। अजीवकर्म, शत्रु होकर जीव को जबरदस्ती विकार कराता है - ऐसा नहीं है। अजीव को विकार करनेवाला कहा है, वह निमित्तरूप कहा है।

यह गाथा बहुत सरस है, नव तत्त्व समझकर भूतार्थस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट करने की अद्भुत बात इस गाथा में आचार्यदेव ने की है। उसे समझकर अन्तरङ्ग में मनन करने योग्य है। ●

www.vitragvani.com

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य - (6)

नव तत्त्व का स्वरूप और जीव-अजीव के परिणमन की स्वतन्त्रता

मात्र नव तत्त्व के विचार से सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता परन्तु अभेद स्वरूप के अनुभव में नहीं पहुँच सका वहाँ बीच में अभेद के लक्ष्य से नव तत्त्वों का विचार आये बिना नहीं रहता। नव के विकल्प से भिन्न पड़कर एक आत्मा का अनुभव करना, वह सम्यक् श्रद्धा का लक्षण है।

यह धर्म की बात चलती है। सबसे पहला धर्म, सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन कैसे हो? उसकी बात इस तेरहवीं गाथा में है। जिसे आत्मा का धर्म करना है, उसे प्रथम नव तत्त्वों का पृथक् -पृथक् ज्ञान करना चाहिए। ये नव तत्त्व पर्यायगत हैं। त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि में नव प्रकार के भेद नहीं हैं; इसलिए स्वभाव के अनुभवरूप आनन्द के समय तो नव तत्त्वों का लक्ष्य छूट जाता है परन्तु सर्व प्रथम जो नव तत्त्वों को पृथक्-पृथक् नहीं समझता, उसे एक अभेद आत्मा की श्रद्धा और अनुभव नहीं हो सकता।

नव तत्त्व को व्यवहार से जैसा है, वैसा जानकर उन नव में से एक अभेद चैतन्यतत्त्व की अन्तर्दृष्टि व प्रतीति शुद्धनय से करना, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और वही सच्चे धर्म की शुरुआत है। यह बात समझे बिना अज्ञानी जीव, बाह्य क्रियाकाण्ड के लक्ष्य से राग की मन्दता से पुण्य बाँधकर चार गतियों में परिभ्रमण करते हैं परन्तु आत्मा का कल्याण क्या है? यह बात उन्हें नहीं सूझती और उन्हें धर्म भी नहीं होता।

www.vitragvani.com

आत्मा त्रिकाली चैतन्यवस्तु है, वह जीव है और शरीरादि अचेतन वस्तुएँ हैं, वे अजीव हैं। जीवतत्त्व तो त्रिकाल चैतन्यमय है, उसकी अवस्था में अजीव के लक्ष्य से विकार होता है, वह वास्तव में जीवतत्त्व नहीं है, फिर भी उसकी अवस्था में पुण्य-पाप के विकार होने की योग्यता जीव की अपनी है। दया, पूजा इत्यादि भाव, वह शुभराग हैं, पुण्य है; उस विकाररूप होने की योग्यता जीव की अपनी अवस्था में है और उसमें निमित्तरूप अजीव परमाणुओं में भी पुण्यकर्मरूप होने की स्वतन्त्र योग्यता है।

पुण्य के असंख्य प्रकार हैं, उसमें जीव अपनी जैसी भूमिका हो, वैसे परिणामरूप परिणमता है। पुण्य के असंख्यात प्रकारों में से किसी समय दया का विकल्प होता है, किसी समय ब्रह्मचर्य का विकल्प होता है, किसी समय दान का अथवा पूजा-भक्ति -स्वाध्याय का विकल्प होता है, किसी समय नव तत्त्व के विचार का सूक्ष्म विकल्प होता है - ऐसी उस-उस भूमिका के परिणाम की ही योग्यता है। जब अपनी एक पर्याय के कारण भी दूसरी पर्याय नहीं होती तो फिर निमित्त से आत्मा का भाव हो - यह बात तो कहाँ रही ?

पुण्य की तरह हिंसा, कुटिलता इत्यादि पापपरिणाम हों, उनमें भी उस-उस क्षण की, उस जीव की अवस्था में वैसी ही उलटी योग्यता है अर्थात् जीव, विकारी होने योग्य है और पुद्गलकर्म उसमें निमित्त है; इसलिए उसे विकार **करानेवाला** कहते हैं। जीव और अजीव दोनों पदार्थों की अवस्था अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता से ही होती है। कोई एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं परन्तु

www.vitragvani.com

पुण्य-पाप इत्यादि जीव की विकारी पर्याय हैं; इसलिए उसमें निमित्त का भी ज्ञान कराते हैं। अकेले जीवतत्त्व में अपनी ही अपेक्षा से सात भेद नहीं पड़ते हैं। एक तत्त्व में सात अवस्था के प्रकार पड़ने पर उसमें निमित्त की अपेक्षा आती है। आत्मा की अवस्था में पुण्य-पाप होने में जीव की योग्यता है और अजीव उसमें निमित्त है, उस निमित्त को भी पुण्य-पाप कहा जाता है।

पाँचवाँ, आस्रवतत्त्व है। उस आस्रवतत्त्व के भी असंख्य प्रकार हैं। उस आस्रवरूप होने की जीव की योग्यता है। यहाँ 'योग्यता' कहकर आचार्यदेव ने जीव के परिणाम की स्वतन्त्रता बतलाई है। जो जीव के परिणाम की स्वतन्त्रता निश्चित न करे, उसमें त्रिकाली स्वयं-सिद्ध स्वतन्त्र वस्तु की श्रद्धा करके, सम्यग्दर्शन प्रगट करने की योग्यता नहीं हो सकती।

जीव की अवस्था में जो आस्रवभाव होता है, वह जीव आस्रव है और उसमें निमित्तरूप अजीवकर्म, वह अजीवआस्रव है। यदि विकारी आस्रव को ही जीवतत्त्व में लें तो वह जीव, विकार में ही अटक जाएगा और उसे धर्म नहीं होगा।अवस्था में वह विकार अपने अपराध से होता है - यदि ऐसा नहीं जानें तो उस विकार के अभाव का प्रसङ्ग कैसे बनेगा ? जीव की अवस्था में जैसे परिणाम की योग्यता होती है, वैसा आस्रव आदि भाव होता है - ऐसा आचार्यदेव ने कहा है। तात्पर्य यह है कि शरीरादि बाह्य की क्रिया से आस्रव होता है, यह बात उड़ा दी है। जीव-अजीव की पर्याय की इतनी स्वतन्त्रता स्वीकार करें, तब नव तत्त्व को व्यवहार से स्वीकार किया कहा जाता है।

www.vitragvani.com

जीव के जिस विकारीभाव के निमित्त से जड़कर्मों का आना होता है, उस भाव को आस्रव कहते हैं, वह जीव आस्रव है। एक समयमात्र का आस्रव, जीव की योग्यता से होता है – ऐसा निश्चित किया, उसमें उस समय कर्तृत्व-भोक्तृत्व इत्यादि गुण की वैसी ही योग्यता है – ऐसा भी आ जाता है। ज्ञान को वैसा ही जानने की योग्यता है; चारित्र में उसी प्रकार के परिणमन की योग्यता है; इसलिए पर के समक्ष देखना नहीं रहता, किन्तु अपनी योग्यता के समक्ष देखना रहा।

यदि प्रत्येक समय की स्वतन्त्रता निश्चित करे तो पर के आश्रय की मिथ्याबुद्धि छूट जाए तथा एक समय की पर्याय की योग्यता जितना मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसा निश्चित करके, एक समय की पर्याय का आश्रय छोड़कर, त्रिकालीस्वभाव के सन्मुख ढले बिना नहीं रहे। 'पर्याय का आश्रय छोड़ना' – ऐसा समझने के लिए कहा जाता है परन्तु वस्तुत: तो अखण्ड द्रव्य के सन्मुख ढलने पर पर्याय का आश्रय रहता ही नहीं है। मैं पर्याय का आश्रय छोड़ूँ – ऐसे लक्ष्य से पर्याय का आश्रय नहीं छूटता है; पर्याय को द्रव्य में अन्तर्लीन करने पर पर्याय का आश्रय छूट जाता है।

नव तत्त्व की श्रद्धा के बिना सीधे आत्मा की श्रद्धा नहीं होती है और नव तत्त्व की श्रद्धा के विकल्प करनेमात्र से सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता है।

जीव की पर्याय और अजीव की पर्याय – ये दोनों भिन्न -भिन्न हैं। जीव के विकार के कारण जड़कर्म में आस्रवदशा होती है – ऐसा नहीं है परन्तु उस अजीव में वैसी योग्यता है और

www.vitragvani.com

अजीवकर्म के कारण आत्मा में विकार होता है - ऐसा भी नहीं है; वहाँ जीव की अपनी वर्तमान योग्यता है। प्रति समय कर्म के जो -जो रजकण आते हैं, वह विकार के प्रमाण में ही आते हैं - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक का सुमेल होने पर भी विकार के कारण वे रजकण नहीं आते; दोनों का वैसा ही स्वभाव है। जैसे, तराजू के एक पलड़े में एक किलो का बाँट रखकर, दूसरे पलड़े में एक किलो वस्तु रखे तब काँटा बराबर रहता है - ऐसा ही उसका स्वभाव है; उसमें उसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार जड़कर्मों को कुछ पता नहीं है कि इस जीव ने कितना विकार किया है; इसलिए उसके पास जाऊँ? परन्तु उसकी अपनी योग्यता से ही वह वैसे कर्मरूप परिणम जाता है। विकार के प्रमाण में ही कर्म आते हैं - ऐसा उनका स्वभाव है। विकार को जानकर आस्रवरहित शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करना ही प्रयोजन है। यह जानकर भी शुद्ध आत्मा की श्रद्धा किये बिना, कभी धर्म नहीं होता है।

छठवाँ, संवरतत्त्व है। संवर अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलदशा। वह संवर कोई देव-शास्त्र-गुरु से अथवा बाह्य क्रिया से नहीं होता, किन्तु जीव की अपनी योग्यता से होता है। वह संवर, जीवद्रव्य के आश्रय से होता है परन्तु यहाँ संवरतत्त्व किस प्रकार प्रगट होता है? यह बात नहीं बतलाना है। यहाँ तो मात्र संवरतत्त्व है, इतना ही सिद्ध करना है। संवरतत्त्व कैसे प्रगट हो? - यह बात बाद में की जाएगी। जड़कर्म हटें तो सम्यग्दर्शनादि होते हैं - ऐसी परतन्त्रता नहीं है। सम्यग्दर्शनादि होने की योग्यता जीव की अपनी है। अन्तरस्वभाव में एकता होने पर जो संवर-निर्जरा

www.vitragvani.com

के शुद्ध अंश प्रगट होते हैं, वह तो अभेद आत्मा में एकरूप हो जाते हैं परन्तु जब नव तत्त्व के भेद से विचार करते हैं, तब जीव की पर्याय की योग्यता है – ऐसा कहते हैं। उसमें द्रव्य-पर्याय का भेद पाड़कर कथन है। नव तत्त्व के भेद पाड़कर संवर-पर्याय को लक्ष्य में लेने से कर्म के निमित्त की अपेक्षा आती है। अकेले अभेदस्वभाव की दृष्टि में तो वह भेद नहीं पड़ते हैं। संवर की निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह अभेद में ही मिल जाती है।

जीव में संवर के काल में कर्म के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय की ही योग्यता उसके कारण ही होती है, वह अजीवसंवर है। जीव में विकार के समय, कर्म में उदय की योग्यता होती है और जीव में संवर के समय, कर्म में उपशम इत्यादि की ही योग्यता होती है – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अकेले जीवतत्त्व को ही लक्ष्य में लो तो सात तत्त्व के भेद नहीं पड़ते हैं तथा अकेले अजीवतत्त्व को ही लक्ष्य में लो तो भी सात तत्त्व के भेद नहीं पड़ते हैं। जीव और अजीव को एक-दूसरे की अपेक्षा से अवस्था में सात तत्त्व होते हैं। उन दोनों की अवस्था में सात तत्त्वरूप परिणमन होता है। जीव में सात तथा अजीव में भी सात भेद पड़ते हैं। उन सात तत्त्वों का लक्ष्य छोड़कर, अकेले चैतन्यतत्त्व को ही अभेदरूप से लक्ष्य में लेने पर उसमें सात प्रकार नहीं पड़ते और सात प्रकार के विकल्प उत्पन्न नहीं होते, परन्तु निर्मलपर्याय होकर अभेद में मिल जाती है।

जगत् में जीव और अजीव वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा मानकर उनका स्वतन्त्र परिणमन मानें और उसमें एक-दूसरे की

www.vitragvani.com

अपेक्षा मानें, तब नव तत्त्वों को व्यवहार से माना जा सकता है परन्तु इस जगत् में अकेला ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही है अथवा अकेले जड़ पदार्थ ही हैं - ऐसा मानें अथवा जड़-चेतन दोनों अवस्था स्वतन्त्र नहीं मानें तो उसे नव तत्त्वों की यथार्थ मान्यता नहीं हो सकती है। नव तत्त्वों को मानने में तो व्यवहारवीर्य है अर्थात् शुभविकल्प का अल्प वीर्य है और फिर अनन्त वीर्यरूप चैतन्यद्रव्य की तरफ ढले, तब एक शुद्ध आत्मा की प्रतीति होती है।

नव तत्त्व की प्रतीति की अपेक्षा अभेद चैतन्यतत्त्व की प्रतीति करने में अलग ही जाति का बेहद पुरुषार्थ है परन्तु जिसमें एक पैसा देने की सामर्थ्य नहीं है, वह अरबों रुपये कहाँ से दे सकेगा? इसी प्रकार जो कुदेवादि को मानता है, उसमें नव तत्त्व के सच्चे विचार की भी ताकत नहीं है। जहाँ नव तत्त्व के विचार की भी ताकत नहीं है, वहाँ वह जीव, अभेद आत्मा की निर्विकल्पश्रद्धा, अनुभव कैसे कर सकेगा? और इसके बिना उसे धर्म अथवा शान्ति नहीं होगी।

यहाँ आचार्यदेव शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव कराने के लक्ष्य से प्रथम तो नव तत्त्वों की पहचान कराते हैं। उसमें से छठवें संवर तत्त्व की व्याख्या चल रही है। जीव और अजीव को ऐसा निमित्त -नैमित्तिक सम्बन्ध है कि जीव की अवस्था में जब निर्मल सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रगट होकर अशुद्धता रूक जाती है, तब अजीव परमाणुओं में भी कर्मरूप परिणमन नहीं होता, इसे संवर कहते हैं। जीव में संवररूप होने की योग्यता है और अजीव परमाणु उसमें निमित्त होने से उन्हें संवर कहते हैं।

www.vitragvani.com

जीव के निर्मलभाव का निमित्त पाकर कर्म के परमाणु आना रुक गये, उसे संवर कहते हैं।

प्रश्न – क्या परमाणु आते हुए रुक गये?

उत्तर – परमाणु आना ही नहीं थे; इसलिए नहीं आये। 'कोई अमुक परमाणुओं में कर्मरूप परिणमन होना था परन्तु जीव में शुद्धभाव प्रगट होने के कारण वह परिणमन रुक गया' – ऐसा नहीं है। उन परमाणुओं में भी उस समय कर्मरूप होने की योग्यता ही नहीं थी। शास्त्रों में तो अनेक प्रकार की शैली से कथन आता है परन्तु वस्तुस्वरूप क्या है? – वह लक्ष्य में रखकर इसका आशय समझना चाहिए।

पहले विकार के समय कर्म-परमाणु आते थे और अब संवरभाव प्रगट हुआ, उस समय कर्म-परमाणु नहीं आते, उसे संवर कहा है। जीव-अजीव दोनों का ऐसा सहज मेल है कि जहाँ आत्मा में धर्म की योग्यता और संवरभाव प्रगट हुआ, वहाँ उसे कर्मों का आना होता ही नहीं, पुद्गल में उस समय वैसा परिणमन होता ही नहीं; इसलिए आने योग्य नहीं थे उन परमाणुओं को संवर में निमित्त कहा अर्थात् पुद्गल में कर्मरूप परिणमन के अभाव को संवर में निमित्त कहा है।

अहो! प्रत्येक द्रव्य और पर्याय की स्वतन्त्रता जाने बिना स्वतत्त्व की रुचि करके स्वभाव तरफ ढलेगा कब? नव तत्त्व के ज्ञान में प्रत्येक द्रव्य-पर्याय की स्वतन्त्रता का ज्ञान तथा देव -शास्त्र-गुरु का ज्ञान भी आ जाता है।

सातवाँ, निर्जरा तत्त्व है। आत्मा का भान होने पर अशुद्धता का

www.vitragvani.com

अभाव होता जाता है और शुद्धता बढ़ती जाती है, इसका नाम निर्जरा है। वह जीव की अवस्था की योग्यता है, किसी बाहर की क्रिया से वह योग्यता नहीं हुई है। जीव में निर्जराभाव प्रगट हो, उस काल में कर्म खिर जाते हैं, वह अजीवनिर्जरा है, उसमें अजीव की योग्यता है। जीव और अजीव दोनों में अपनी-अपनी निर्जरा की योग्यता है। आत्मस्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता द्वारा चैतन्य की शुद्धता होने पर अशुद्धता का अभाव हुआ, वह जीव की अपनी योग्यता है और उस समय निमित्तरूप कर्म उनके कारण स्वयं अभावरूप हुए हैं। आत्मा ने कर्मों का नाश किया है, यह कहना तो निमित्त का कथन है।

णमो अरिहंताणं के भावार्थ में भी अज्ञानी को आपत्ति लगे - ऐसा है। 'अरिहन्त अर्थात् कर्मरूपी शत्रु को हरनेवाले'; इसलिए भगवान के आत्मा ने जड़कर्मों का नाश किया है - ऐसा अज्ञानी तो वास्तव में मान लेगा, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि नहीं; वास्तव में ऐसा नहीं है। जड़कर्म, आत्मा के शत्रु हैं और भगवान ने कर्मों का नाश किया है - यह कथन तो निमित्त से है। कोई जड़कर्म, आत्मा का शत्रु नहीं है तथा आत्मा किसी जड़कर्म का स्वामी नहीं है कि वह उसका अभाव कर दे। जीव, अज्ञानभाव से स्वयं अपना शत्रु था, तब निमित्त कर्मों को उपचार से शत्रु कहा गया और जीव ने शुद्धता प्रगट करके, अशुद्धता का अभाव किया, वहाँ निमित्तरूप कर्म भी स्वयं विनष्ट हो गये; इसलिए कर्मों ने आत्मा का नाश किया — ऐसा उपचार से कहा जाता है। इस प्रकार जीव और अजीव दोनों का भिन्नपना रखकर शास्त्रों का अर्थ समझना चाहिए।

www.vitragvani.com

अरिहन्त भगवान, भाषावर्गणा को ग्रहण करते हैं और फिर सामनेवाले जीव की योग्यता प्रमाण वह भाषा छोड़ते हैं - इस प्रकार जो भगवान को अजीव का कर्ता मानता है, वह अज्ञानी है। उसने जीव को अजीव का स्वामी माना है, उसे वस्तु की स्वतन्त्रता का पता नहीं है तथा केवली के स्वरूप का भी पता नहीं है। केवली को वाणी का कर्ता मानकर, वह केवलीप्रभु का अवर्णवाद करता है। वीतरागदेव क्या वस्तुस्वरूप कहते हैं? - यह समझे बिना बहुत लोगों का मनुष्यजन्म व्यर्थ चला जा रहा है। सात तत्त्वों में जीव और अजीव के स्वतन्त्र निमित्त-नैमित्तिकपने की श्रद्धा करना, वह तो व्यवहारश्रद्धा में आ जाती है; परमार्थश्रद्धा तो उससे अलग है। जितने प्रमाण में जीव शुद्धता करता है और अशुद्धता मिटती है, उतने ही प्रमाण में कर्मों की निर्जरा होती है; फिर भी दोनों का परिणमन स्वतन्त्र है। मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण पर्याय में वैसा मेल हो जाता है।

आठवाँ, बन्धतत्त्व है। जीव, विकारभाव में अटकता है, उसका नाम बन्धन है। बन्धनयोग्य जीव की अवस्था है और उसमें निमित्तरूप जड़कर्म को बन्धन करनेवाला कहते हैं परन्तु कर्म ने जीव को बन्धन कराया - ऐसा नहीं है; योग्यता तो जीव की अवस्था की है। आत्मा में बन्धन की योग्यता हुई; इसलिए कर्म को बँधना पड़ा - ऐसा भी नहीं है और कर्म के कारण जीव बँधा - ऐसा भी नहीं है। जिसने स्वभाव के एकपने की श्रद्धा की है, उसे पर्याय की योग्यता का यथार्थ ज्ञान होता है। मात्र नव तत्त्व को जाने, परन्तु अन्तर में स्वभाव की एकता की ओर नहीं ढले तो यथार्थ ज्ञान नहीं होता और सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं होता।

www.vitragvani.com

जैसे, माता-पिता को हँसता देखकर कोई बालक भी साथ ही हँसने लगता है परन्तु वे किसलिए हँसते हैं ? इसका उसे पता नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी, आत्मा के सत् स्वभाव की अपूर्व बात करते हैं। वहाँ उसे समझकर उसकी हाँ करके जो उत्साह बताता है, वह तो आत्मा का अपूर्व लाभ प्राप्त करता है और कितने ही जीव यह बात समझे बिना उत्साह बताते हैं; ज्ञानी कुछ आत्मा की अच्छी बात कहते हैं - ऐसा विचार कर हाँ करके मान लेते हैं परन्तु उसका भाव क्या है ? - वह स्वयं अन्तर में नहीं समझे तो उसे आत्मा की समझ का यथार्थ लाभ नहीं होता; मात्र पुण्य बँधकर छूट जाता है। अन्तर में स्वयं तत्त्व का निर्णय करे, उसी की वास्तविक कीमत है। स्वयं तत्त्व का निर्णय किये बिना हाँ करेगा तो वह टिकेगी नहीं।

प्रश्न - पर्यायदृष्टि से नव तत्त्व जानना व्यवहार है, उनसे अभेद आत्मा की श्रद्धा का लाभ नहीं होता; इसलिए उसमें उत्साह कैसे आयेगा ?

उत्तर - व्यवहार का उत्साह करने को कौन कहते हैं ? परन्तु जिसे अभेद आत्मा के अनुभव का उत्साह है, उसे बीच में नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा आ जाती है। अभेदस्वभाव के लक्ष्य की ओर ढलने में प्रथम आँगनरूप में मिथ्या तत्त्व की मान्यता छोड़कर सच्चे नव तत्त्व का निर्णय करने में उत्साह आये बिना नहीं रहता, परन्तु नव तत्त्व के विकल्प की प्रधानता नहीं है, अपितु अभेद स्वभाव का लक्ष्य करने की प्रधानता है; उसका ही उत्साह है। नव तत्त्व का निर्णय भी कुतत्त्व से छुड़ानेमात्र ही कार्यकारी है। यदि पहले से ही अभेद चैतन्य को लक्ष्य में लेने का आशय हो तो

www.vitragvani.com

बीच में आयी हुई नव तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारश्रद्धा कहते हैं परन्तु जिसे पहले से ही व्यवहार के आश्रय की बुद्धि है, वह जीव तो व्यवहारमूढ है; उसे नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है।

मात्र नव तत्त्व के विचार से सम्यग्दर्शन नहीं होता, परन्तु अभेद स्वरूप के अनुभव में नहीं पहुँच सके, तब बीच में अभेद के लक्ष्य से नव तत्त्व के विचार आये बिना नहीं रहते हैं। जिस प्रकार वारदान के बिना माल नहीं होता और वारदान स्वयं भी माल नहीं है; इसी प्रकार नव तत्त्व को जाने बिना सम्यक्श्रद्धा नहीं होती और नव तत्त्व के विचार भी स्वयं सम्यक्श्रद्धा नहीं है। विकल्प से भिन्न पढ़कर अभेद आत्मा का अनुभव करना ही सम्यक्श्रद्धा का लक्षण है – ऐसा सम्यग्दर्शन का निश्चय-व्यवहार है।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य है; इसके अतिरिक्त जगत् के दूसरे किसी बाह्य कर्तव्य को आत्मार्थी जीव अपना कर्तव्य मानता ही नहीं है।

अहो! जीव का स्वभाव ज्ञायक शुद्ध चैतन्य है। उसमें तो बन्धन अथवा अपूर्णता नहीं है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से तो जीव में बन्ध-मोक्ष इत्यादि सातों तत्त्व नहीं हैं परन्तु वर्तमान अवस्था में विकार से भावबन्धन की योग्यता है। कर्मों ने जीव को परिभ्रमण नहीं कराया है, कर्म तो निमित्तमात्र हैं; जीव अपने विकार से परिभ्रमण करे, तब कर्मों को निमित्तरूप से परिभ्रमण करानेवाला कहा है। बड़े-बड़े नामधारी त्यागी और विद्वान् भी इस बात में

www.vitragvani.com

गोता खाते हैं। जैसे, पानी के संयोग का ज्ञान कराने के लिए पीतल के कलश को भी पानी का कलश कहते हैं; उसी प्रकार जब जीव अपने विपरीतभाव से परिभ्रमण करता है, तब निमित्तरूप में जड़कर्म होते हैं, यह बताने के लिए 'कर्म ने जीव को परिभ्रमण कराया' – ऐसा व्यवहार का कथन है। उसके बदले अज्ञानी उस कथन को भी पकड़ बैठे हैं।

देखो! कर्मों ने जीव को परिभ्रमण कराया – ऐसी मान्यता को तो यहाँ व्यवहारश्रद्धा में भी नहीं लिया है। जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न जानें, जीव की अवस्था में बन्धतत्त्व की योग्यता है और पुद्गल में कर्मरूप होने की उसकी स्वतन्त्र योग्यता है – ऐसे दोनों को भिन्न-भिन्न जानें, उसे यहाँ व्यवहारश्रद्धा कहा जाता है और वह सम्यग्दर्शन का व्यवहार है।

अभी लोगों को सम्यग्दर्शन के व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है और वे चारित्र के व्यवहार में उतर पड़े हैं। अनादि की बाह्यदृष्टि है; इसलिए शीघ्र बाह्य त्याग में उतर पड़ते हैं। बाहर से कुछ त्याग दिखता है, इसलिए हमने कुछ किया है – ऐसा मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं परन्तु अन्दर में तो महा मिथ्यात्व का पोषण होता है, उसका कहाँ भान है? मिथ्यात्व अनन्त संसार के परिभ्रमण का कारण है, उसके अभाव की दरकार भी नहीं करते हैं। अन्दर में सूक्ष्म मिथ्यात्वसहित बाह्य त्याग करके जीव नौवें ग्रैवेयक तक गया है और चार गतियों में परिभ्रमण किया है। देखो, नौवें ग्रैवेयक जानेवाले की व्यवहारश्रद्धा तो सही होती है। अभी के बहुत से लोगों में तो वैसी नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है तो फिर

www.vitragvani.com

धर्म का मार्ग तो अन्दर की परमार्थश्रद्धा में है, उसकी तो बात ही क्या है ?

जीव और अजीव की प्रति समय की स्वतन्त्रता स्वीकार करके सात तत्त्वों को जाननेवाले को तो व्यवहार सम्यग्दर्शन हुआ और विकल्परहित होकर अन्तर में अभेद चैतन्यतत्त्व का अनुभव और प्रतीति करे, तब परमार्थ सम्यग्दर्शन होता है; वही आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य है। ●

ऐसी स्थिति में कब होयेंगे!

भाई! पर की भावना करने में तो तेरा अनन्त काल व्यतीत हो गया है। अब तेरे चैतन्य की महिमा जानकर उसकी भावना तो कर। उसकी भावना से तेरे भव का अन्त आयेगा। अहो! ऐसी भावना भा कर जंगल में जाकर ध्यान करें और ऐसे लीन होवें कि स्थिर बिम्ब देखकर शरीर के साथ जंगल के खरगोश और हिरण भ्रम से (वृक्ष समझकर) अपना शरीर घिसते हों – ऐसी स्थिति में कब होयेंगे!

www.vitragvani.com

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य - (7)

सम्यग्दर्शन के लिए अपेक्षित भूमिका
(अफरगामी मुमुक्षु की बात)

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य है इसके अतिरिक्त जगत के किसी बाह्य कर्तव्य को आत्मार्थी जीव अपना कर्तव्य नहीं मानता। तीव्र वैराग्यसहित आत्मरुचि, वह सम्यक्त्व का कारण है।

जिसे निज आत्मा का हित करना हो, उसे पहले क्या करना चाहिए? - यह बात चल रही है। जो आत्मार्थी है; अर्थात्, जिसे अपना कल्याण करने की भावना है, उसे देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा कौन है? उसे जानना चाहिए। आत्मा को जानने के लिए प्रथम, नव तत्त्वों का ज्ञान करना चाहिए। उन नव तत्त्वों में प्रथम, जीव और अजीव - ये दो जाति के तत्त्व अनादि-अनन्त हैं। किसी ने उन्हें बनाया नहीं है और उनका कभी नाश नहीं होता। जीव और अजीव, यह दोनों स्वतन्त्र तत्त्व हैं और इन दो के सम्बन्ध से दोनों की अवस्था में सात तत्त्व होते हैं। आत्मा में अपनी योग्यता से पुण्य-पापादि सात प्रकार की अवस्था होती है और उसमें निमित्तरूप अजीव में भी सात प्रकार पड़ते हैं।

आत्मा, त्रिकाली चैतन्यवस्तु है परन्तु उसे भूलकर अवस्था में मिथ्यात्व और राग-द्वेष से अज्ञानी जीव अनादि काल से बँधा हुआ है। वह बन्धनभाव, आत्मा की योग्यता से है; किसी दूसरे ने उसे बन्धन नहीं कराया है। यदि जीव को वर्तमान अवस्था में

www.vitragvani.com

भाव-बन्धन न हो तो आनन्द का प्रगट अनुभव होना चाहिए, परन्तु आनन्द का प्रगट अनुभव नहीं है क्योंकि वह अपनी पर्याय में विकार के भावबन्धन से बँधा हुआ है। जैसे, स्फटिक के उज्ज्वल स्वच्छ स्वरूप में जो लाल-काली झाँई पड़ती है, वह उसका मूलस्वरूप नहीं है परन्तु स्फटिक का विकार है, उपाधि है। इसी प्रकार जीव का स्वच्छ चैतन्यस्वभाव है, उसकी अवस्था में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह उसका मूलस्वरूप नहीं है; अपितु विकार है, बन्धन है।

विकारभाव, वह जीवबन्ध है और उसमें निमित्तरूप जड़कर्म है, वह अजीवबन्ध है; इस प्रकार जीव-अजीव दोनों की अवस्था भिन्न-भिन्न है। यदि पर निमित्त की अपेक्षा बिना अकेले आत्मा के स्वभाव से विकार हो, तब तो वह स्वभाव हो जाएगा और कभी भी उसका अभाव नहीं हो सकेगा, परन्तु विकार तो जीव की अवस्था की क्षणिक योग्यता है और उसमें द्रव्यकर्म निमित्तरूप हैं। निमित्त के लक्ष्य से विकार होता है परन्तु स्वभाव के लक्ष्य से विकार अथवा बन्धनभाव नहीं होता।

नौवाँ, मोक्षतत्त्व है। जीव की पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ-वीतराग आनन्ददशा, वह मोक्ष है। इस मोक्षरूप होने की योग्यता जीव की अवस्था में है और जड़कर्म का अभाव उसमें निमित्तरूप है। जीव में पवित्र मोक्षभाव प्रगट हुआ, वहाँ कर्म स्वयं स्वतः छूट गये। जीव और अजीव - ये दो त्रिकाली तत्त्व हैं, उन्हें तथा उनकी पर्याय में सात तत्त्वरूप परिणमन होता है उसे; इस प्रकार नव तत्त्वों को पहचानना चाहिए।

मोक्षरूप होने की योग्यता जीव की है और जड़कर्मों का छूट

www.vitragvani.com

जाना, वह निमित्त है, वह अजीवमोक्ष है। इस प्रकार यहाँ प्रथम तो मोक्षतत्त्व की पहचान करायी गयी है। अन्तरस्वभाव के आश्रय से जीव की परिपूर्ण पवित्र अवस्था प्रगट हो, उसे मोक्ष कहते हैं तथा अजीव कर्म के अभावरूप पुद्गल की अवस्था को भी मोक्ष कहते हैं। मोक्षतत्त्व को जान लेनेमात्र से मोक्ष नहीं हो जाता, परन्तु मोक्ष इत्यादि नव तत्त्वों को जानने के पश्चात् उनका आश्रय छोड़कर, अन्तर के अभेदस्वभाव के आश्रय से मोक्षदशा प्रगट होती है।

इस प्रकार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – इन नव तत्त्वों की पहचान करायी है। इन नव तत्त्वों को पहचानने का प्रयोजन क्या है? नव तत्त्वों को पहचानकर अन्तर में अभेद चैतन्यमूर्ति स्वभाव का शुद्धनय से अनुभव करना ही प्रयोजन है और ऐसा अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है, वह कल्याण का मूल है और वह मानव जीवन का महाकर्तव्य है।

देखो, अनन्त काल से कभी चैतन्य की समझ नहीं की है। अनादि काल से जीव, संसार में परिभ्रमण करता है, उसमें चैतन्य की समझ का रास्ता लिये बिना दूसरे बाह्य साधन किये हैं परन्तु संसारभ्रमण का अभाव नहीं हुआ है क्योंकि चैतन्य की समझ करना ही संसारभ्रमण के अभाव का उपाय है, वह उपाय करना रह गया है। इसलिए श्रीमद् राजचन्द्रजी 'क्या साधन बाकी रह गया..' – यह बतलाते हुए कहते हैं कि –

यम-नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग-विराग अथाग लह्यो।
वनवास रह्यो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियौ।
यह साधन बार अनन्त कियौ, तदपि कछु हाथ हजू न पर्यौ।
अब क्यों न विचारत है मन से, कछु और रहा उन साधन से॥

www.vitragvani.com

यम, नियम, व्रत, तप, बाह्य त्याग, वैराग्य इत्यादि सब साधन किये, परन्तु चैतन्यस्वरूपी अपना आत्मा कौन है? उसकी समझरूप सच्चा साधन शेष रह गया है; इसलिए जीव का किञ्चित् भी कल्याण नहीं हुआ है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य आत्माओं! आत्मा के अभेदस्वरूप का अनुभव करने से पूर्व बीच में नव तत्त्व की भेदरूप प्रतीति आये बिना नहीं रहती, परन्तु उस नव तत्त्व के भेदरूप विचार का ही आश्रय मानकर अटकना मत! नव तत्त्व के भेदरूप विचार के आश्रय में अटकने से सम्यक् आत्मा अनुभव में नहीं आता, परन्तु उस भेद का आश्रय छोड़कर, रागमिश्रित विचार का अभाव करके, अभेदस्वभाव सन्मुख होकर शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव और प्रतीति करने से सम्यक्श्रद्धा होती है। वह सम्यक्श्रद्धा ही आत्मा के कल्याण का उपाय है, उससे ही मोक्ष का दरवाजा खुलता है।

यदि अवस्था में जीव की योग्यता और अजीव का निमित्तपना - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध न हो तो सात तत्त्व ही सिद्ध नहीं होते। जीव और अजीव की अवस्था में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उस दृष्टि से देखने पर नव तत्त्व के भेद विद्यमान हैं और यदि अकेले चैतन्यमूर्ति अखण्ड जीवतत्त्व को लक्ष्य में लो तो द्रव्यदृष्टि में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं होने से नव तत्त्व के भेद नहीं पड़ते हैं; इसलिए शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और एक चैतन्य परम तत्त्व ही प्रकाशमान है। यद्यपि वर्तमान निर्मलपर्याय है अवश्य, परन्तु वह अभेद में मिल जाती है; अर्थात्, उस जीव को द्रव्य और पर्याय के

www.vitragvani.com

भेद का विकल्प नहीं है — ऐसा अनुभव ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, वही मोक्ष का मार्ग है। **अनुभव मारग मोक्ष का.... अनुभव है रसकूप।**

जीव के भावरूप सात तत्त्व जीव में हैं तथा उसमें निमित्तरूप जड़ की अवस्था में सात तत्त्व हैं, वह अजीव में हैं - ऐसे सात प्रकार अकेले शुद्ध जीव में अथवा अकेले अजीव में नहीं होते हैं। इन नव तत्त्वों का बहुत-बहुत प्रकार से वर्णन कहा गया है, तद्नुसार नव तत्त्वों का निर्णय किये बिना आत्मा का स्वरूप नहीं समझा जा सकता और अपना स्वरूप क्या है ? - यह समझे बिना चैतन्य सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

अमूल्य तत्त्व विचार में श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि -

मैं कौन हूँ ? आया कहाँ से ? और मेरा रूप क्या ?
सम्बन्ध दुखमय कौन हैं ? स्वीकृत करूँ परिहार क्या॥
इसका विचार विवेकपूर्वक, शान्त होकर कीजिए।
तो सर्व आत्मिकज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिए॥

इसमें जीव के स्वरूप का विचार करके निर्णय करने को कहा है। जीव सम्बन्धी विचार करने पर उसमें नव तत्त्व के विचार आ जाते हैं। मैं, चैतन्यस्वरूप जीव हूँ; शरीरादि, अजीव हैं; वे मैं नहीं हूँ। पुण्य-पाप आस्रव और बन्धभाव, दुःखरूप हैं; संवर-निर्जराभाव, सुख का कारण हैं और धर्म हैं। मोक्ष, पूर्ण सुखरूप निर्मलदशा है; इस प्रकार एक जीव सम्बन्धी विचार करने पर उसमें नव तत्त्व आ जाते हैं। जीव और अजीव तो स्वतन्त्र तत्त्व हैं और उसमें से जीव की अवस्था में पुण्य-पाप-आस्रव-संवर-निर्जरा-बन्ध और मोक्ष

www.vitragvani.com

– ऐसे सात प्रकार अपनी योग्यता से पड़ते हैं तथा अजीवतत्त्व उसमें निमित्तरूप है। अजीव की अवस्था में भी पुण्य-पाप आदि सात प्रकार पड़ते हैं।

एक आत्मा ही सर्व व्यापक है और दूसरा सब भ्रम – ऐसा माननेवाले की मान्यता में सात तत्त्व नहीं रहते हैं और सात तत्त्व के ज्ञान बिना आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता है। सातों तत्त्वों में दो -दो बोल लागू पड़ते हैं – एक जीवरूप है दूसरा अजीवरूप है। देखो, आत्मा को समझे बिना जीव का अनन्त काल व्यतीत हुआ है, उस अनन्त काल में दूसरे बाह्य उपायों को कल्याण का साधन माना है परन्तु अन्तर में सिद्ध भगवान जैसा चैतन्यमूर्ति आत्मा विराज रहा है, उसका शरण लूँ तो कल्याण प्रगट होगा — ऐसा नहीं माना है। जीव ने अज्ञानभावसहित पूजा-भक्ति, व्रत-उपवास इत्यादि के शुभराग और क्रियाकाण्ड को मुक्ति का साधन माना है परन्तु वह समस्त राग तो संसार का कारण है; आत्मा की मुक्ति का कारण नहीं है। इस प्रकार समझकर क्या करना चाहिए? यही कि नव तत्त्वों के और आत्मा के अभेदस्वरूप को जानकर, आत्मस्वभाव के सन्मुख होना चाहिए। उसका आश्रय करना ही धर्म है और वही कल्याण है।

जो जीव, विषय-कषाय में ही डूबा हुआ है और जिसे तत्त्व के विचार का अवकाश भी नहीं है, वह तो पाप में पड़ा हुआ है, उसकी यहाँ बात नहीं है। मुझे आत्मा का कल्याण करना है, जिसे ऐसी जिज्ञासा जागृत हुई है, विषय-कषायों से कुछ परान्मुख होकर जो नव तत्त्व का विचार करता है और अन्तर में आत्मा का अनुभव करना चाहता है, यह उसकी बात है।

www.vitragvani.com

नव तत्त्व का विचार पञ्चेन्द्रियों का विषय नहीं है। पाँच इन्द्रियों के अवलम्बन से नव तत्त्व का निर्णय नहीं होता; इसलिए नव तत्त्व का विचार करनेवाला जीव, पाँच इन्द्रियों के विषयों से तो परान्मुख हो गया है; यद्यपि अभी मन का अवलम्बन है परन्तु वह जीव मन के अवलम्बन में अटकना नहीं चाहता है; वह तो मन अवलम्बन भी छोड़कर, अभेद आत्मा का अनुभव करना चाहता है। स्वलक्ष्य से राग का नकार और स्वभाव का आदर करनेवाला जो भाव है, वह निमित्त और राग की अपेक्षारहित भाव है। उसमें भेद के अवलम्बन की रुचि छोड़कर अभेदस्वभाव का अनुभव करने की रुचि का जो जोर है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण होता है। वह रुचि अन्तर में तीव्र वैराग्यसहित है।

कोई पूछता है कि नव तत्त्व के विचार तो पूर्व में अनन्त बार किये हैं? तो उससे कहते हैं कि भाई! पूर्व में जो नव तत्त्व के विचार किये हैं, उसकी अपेक्षा यह कोई अलग प्रकार की बात है। पूर्व में नव तत्त्व के विचार किये थे, वे अभेदस्वरूप के लक्ष्य बिना किये थे और यहाँ तो अभेदस्वरूप के लक्ष्यसहित की बात है।

पूर्व में अकेले मन के स्थूल विषय से नव तत्त्व के विचार तक तो आत्मा अनन्त बार आया है परन्तु वहाँ से आगे बढ़कर, विकल्प तोड़कर, ध्रुव-चैतन्यतत्त्व में एकपने की श्रद्धा करने की अपूर्व विधि क्या है? - यह नहीं समझा; इसलिए भवभ्रमण खड़ा रहा है परन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं ली गयी है। यहाँ तो अपूर्व शैली का कथन है कि आत्मा का अनुभव करने के लिए जो जीव नव तत्त्व के विचार तक आया है, वह नव तत्त्व का विकल्प तोड़कर, उसमें

www.vitragvani.com

से शुद्ध आत्मा को शोधकर, अभेद आत्मा का अनुभव करता ही है। नव तत्त्व के विचार तक आकर वापस फिर जाए – ऐसी बात यहाँ है ही नहीं। यहाँ तो अफरगामी मुमुक्षु की ही बात है।

निश्चय के अनुभव में तो नव तत्त्व इत्यादि व्यवहार अभूतार्थ हैं परन्तु निश्चय का अनुभव प्रगट करने की पात्रतावाले जीव को ऐसा ही व्यवहार होता है; इससे विरुद्ध दूसरा व्यवहार नहीं होता। व्यवहार को सर्वथा अभूतार्थ गिनकर उसमें गड़बड़ करे और तत्त्व का निर्णय न करे, वह तो अभी परमार्थ के आँगन में भी नहीं आया है। कुतत्त्वों की मान्यता तो परमार्थ का आँगन नहीं भी है, सच्चे तत्त्व की मान्यता ही परमार्थ का आँगन है। जैसे, किसी को सज्जन के घर में जाना हो और दुर्जन के आँगन में जाकर खड़ा रहे तो वह सज्जन के घर में प्रवेश नहीं कर सकता, परन्तु यदि सज्जन के घर के आँगन में ही खड़ा हो तो वह सज्जन के घर में प्रवेश कर सकता है। इसी प्रकार सज्जन अर्थात् सर्वज्ञ प्रभु द्वारा कथित चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करने के लिए सर्वज्ञदेव द्वारा कथित नव तत्त्व इत्यादि का निर्णय करना, वह प्रथम अनुभव का आँगन है; जो उसका निर्णय नहीं करते और दूसरे कुतत्त्वों को मानते हैं, वे तो अभी सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित आत्मस्वभाव के अनुभवरूप आँगन में भी नहीं आये हैं; अत: उन्हें अनुभवरूपी घर में तो प्रवेश होगा ही कैसे ?

पहले, रागमिश्रित विचार से नव तत्त्व इत्यादि का निर्णय करने के पश्चात् ज्ञायकस्वभाव की तरफ ढलकर अनुभव करने पर वह सब भेद अभूतार्थ हो जाते हैं। अभूतार्थ किसलिये कहे हैं ? क्योंकि परमार्थ आत्मा के अनुभव के विषय में वे नहीं आते हैं।

www.vitragvani.com

सच्चे नव तत्त्व की पहचान में सुदेव-गुरु-शास्त्र की और कुदेव आदि की पहचान आ ही जाती है। आस्रव और बन्धतत्त्व की पहचान में कुदेवादि की पहचान आ जाती है। नव तत्त्व के स्वरूप को विपरीतरूप से साधनेवाले सभी कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र हैं। संवर और निर्जरा भाव, वह निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, साधकभाव है। आचार्य, उपाध्याय और साधु - वे गुरु हैं, उनका तथा ज्ञानी-धर्मात्माओं का स्वरूप संवर-निर्जरा में आ जाता है। मोक्ष, आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा है। अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा, वीतराग सर्वज्ञदेव हैं; उनका स्वरूप मोक्षतत्त्व में आ जाता है। इस प्रकार नव तत्त्व में पाँच परमेष्ठी इत्यादि का स्वरूप भी आ जाता है। नव तत्त्व में सम्पूर्ण विश्व के समस्त पदार्थ आ जाते हैं क्योंकि जगत् में नव तत्त्व के अतिरिक्त दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। इस प्रकार तत्त्वों के निर्णय का विचार सम्यग्दर्शन का कारण है।

यहाँ कहा गया व्यवहार, वह सम्यग्दर्शन का आँगन है। कुदेवादिक के आँगन में खड़ा हो तो वह अन्तर आत्मा के घर में प्रवेश नहीं कर सकता। आत्मा के घर में प्रवेश करनेवाले को नव तत्त्व की श्रद्धारूप आँगन बीच में आता है। जिस प्रकार दुर्जन के आँगन में खड़ा हुआ व्यक्ति, सज्जन के घर में प्रवेश नहीं कर सकता, परन्तु सज्जन के आँगन में खड़ा हुआ ही सज्जन के घर में प्रवेश कर सकता है; इस प्रकार आँगन की भी उस प्रकार की योग्यता होती है। इसी प्रकार आत्मा के अनुभव में जाने के लिए नव तत्त्वरूप आँगन समझना चाहिए। खड़ा हो पुद्गल के आँगन में और कहे कि मुझे भूतार्थस्वभाव के घर में प्रवेश करना है तो ऐसा

www.vitragvani.com

कभी नहीं हो सकता। स्वभाव के घर में जाने के लिए आँगन भी उसके योग्य ही होता है; विरुद्ध नहीं होता है।

यहाँ आचार्यदेव ने परमार्थ आत्मा के अनुभव के निमित्तरूप नव तत्त्व के विकल्परूप व्यवहार का वर्णन किया है। यह निमित्त तो अपनी पर्याय में ही है; अनुभव के पहले बीच में ऐसी पर्याय हुए बिना नहीं रहती और सम्यग्दर्शन के निमित्तरूप जो पञ्चेन्द्रियपना, देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि का वर्णन आता है, वह तो बाह्य संयोगरूप निमित्त है; वे तो स्वयं होते हैं और यह नव तत्त्व की श्रद्धारूप व्यवहार तो अपने अन्तर में उस प्रकार के प्रयत्न से होता है। इसलिए इस अध्यात्म ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के निमित्तरूप उसकी ही बात की गयी है। अहो! इस समयसार में अत्यन्त गहनता भरी हुई है।

अब, नव तत्त्वों को जानकर, परमार्थ सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए क्या करना चाहिए? इस विषय में आचार्यदेव विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। पहले सामान्यरूप से बात की थी, अब उस बात को विशेषरूप से समझाते हैं।

'बाह्य अर्थात् स्थूल दृष्टि से देखा जाए तो - जीव-पुद्गल की अनादि बन्धपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर यह नव तत्त्व भूतार्थ है, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ है अर्थात् वे जीव के एकाकार स्वरूप में नहीं हैं; इसलिए इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है।' अज्ञानी को, नव तत्त्व में जीव और अजीव एक होकर परिणमित होते हैं - ऐसा स्थूलदृष्टि से लगता है परन्तु ज्ञानी तो, नव तत्त्वों में जीव और

www.vitragvani.com

अजीव का पृथक्-पृथक् परिणमन है - यह जानता है। ज्ञानी, अन्तर्दृष्टि से जीव-अजीव को अलग-अलग परिणमता हुआ देखता है, यह बात आगे आयेगी।

जिसे जीव-अजीव का भेदज्ञान नहीं है - ऐसा अज्ञानी जीव नव तत्त्व के विकल्प से जीव-पुद्गल की बन्धपर्याय के समीप जाकर अनुभव करता है। अखण्ड चिदानन्दतत्त्व की एकता को चूककर बाह्य संयोग को देखता है। बाह्यलक्ष्य से आत्मा और कर्म की अवस्था को एकरूप अनुभव करने पर तो नव तत्त्व भूतार्थ है, विद्यमान है। व्यवहारनय से देखने पर पर्याय में नव तत्त्व के विकल्प होते हैं परन्तु जिसे अकेले नव तत्त्व का भूतार्थपना ही भासित होता है और एकरूप चैतन्यस्वभाव का भूतार्थपना भासित नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है।

जीव-पुद्गल के सम्बन्ध का लक्ष्य छोड़कर, अकेले शुद्ध जीवतत्त्व को ही लक्ष्य में लेकर अनुभव करने पर अकेला भगवान आत्मा शुद्ध ही जीवरूप से प्रकाशमान है और नव तत्त्व अभूतार्थ हैं - ऐसा अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। अभेद आत्मा की श्रद्धा करने से पूर्व; अर्थात्, धर्म की पहली दशा होने से पहले जिज्ञासु जीव को नव तत्त्व का ज्ञान निमित्तरूप से होता है। नव तत्त्व सर्वथा है ही नहीं - ऐसा नहीं है।

आत्मा और कर्म के सम्बन्ध से होनेवाले नव तत्त्वों की दृष्टि छोड़कर अकेले ज्ञायक की दृष्टि से स्वभाव सन्मुख जाकर अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार अकेले पानी के प्रवाह में भङ्ग नहीं पड़ता, किन्तु बीच में नाले के निमित्त से उसके प्रवाह

www.vitragvani.com

में भङ्ग पड़ता है; उसी प्रकार यदि कर्म के साथ के सम्बन्ध के लक्ष्य से जीव का विचार करो तो नव तत्त्व के भेद विचार में आते हैं परन्तु उस निमित्त का लक्ष्य छोड़कर अकेले चैतन्य प्रवाह को ही दृष्टि में लो तो उसमें भङ्ग-भेद नहीं पड़ते हैं, वह एक ही प्रकार का अनुभव में आता है।

जैसे, अकेले पानी में मीठा-खट्टा अथवा खारा - ऐसे भेद नहीं पड़ते। मीठे, खट्टे अथवा खारेरूप जो भेद पड़ते हैं, वह शक्कर, नींबू अथवा नमक इत्यादि परनिमित्त के सङ्ग की अपेक्षा से पड़ते हैं। निमित्त के सङ्ग की अपेक्षा से देखने पर पानी में वे भेद भूतार्थ हैं परन्तु अकेले पानी के स्वभाव को देखने पर उसमें मीठा, खट्टा अथवा खारा आदि भेद नहीं पड़ते; इसलिए वे भेद अभूतार्थ हैं। इसी प्रकार आत्मा को अकेले स्वभाव से देखने पर तो उसमें भेद नहीं हैं परन्तु जड़कर्म के संयोग की अपेक्षा से देखने पर आत्मा की पर्याय में बन्ध-मोक्ष इत्यादि सात प्रकार पड़ते हैं। पर्यायदृष्टि से वे भेद भूतार्थ हैं और यदि अकेले आत्मा के त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से अनुभव किया जाए तो उसमें बन्ध-मोक्ष इत्यादि सात प्रकार नहीं पड़ते हैं; इसलिए वे अभूतार्थ हैं। इस प्रकार स्वभावदृष्टि से तो नव तत्त्वों में एक भूतार्थ जीव ही प्रकाशमान है, उसमें एक अभेद जीव का ही अनुभव है और वही परमार्थ सम्यग्दर्शन का विषय है।

भाई! यह समझे बिना जीव ने अनन्त काल में जो कुछ किया है, उससे संसार-परिभ्रमण ही हुआ है और एक भी भव कम नहीं हुआ है। यह अपूर्व समझ करना ही भव-भ्रमण से बचने का एकमात्र उपाय है।

www.vitragvani.com

नव तत्त्व कहाँ रहते हैं ? जीव और अजीव तो स्वतन्त्र तत्त्व हैं और उनके सम्बन्ध से सात तत्त्व होते हैं, उनमें जीव के सात तत्त्व, जीव की अवस्था में रहते हैं और अजीव के सात तत्त्व, अजीव की अवस्था में रहते हैं। अज्ञानी को उन दोनों की भिन्नता का भान नहीं है; इसलिए मानो कि जीव और अजीव दोनों एक होकर परिणमते हों – ऐसा उसे लगता है। अज्ञानी, भिन्न अखण्ड चैतन्यतत्त्व को चूककर जड़ और चेतन को एक मानता है और इस कारण पर्यायबुद्धि में वह नव तत्त्वों को ही भूतार्थरूप से अनादि से अनुभव कर रहा है परन्तु स्वभावसन्मुख ढलकर एकरूप स्वभाव का अनुभव नहीं करता है।

मुक्तस्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा एकरूप है, उसमें नव तत्त्वों के भेद नहीं हैं परन्तु बाह्य संयोगीदृष्टि से, वर्तमान दृष्टि से देखो तो नव तत्त्व भूतार्थ दिखलाई देते हैं और यदि वर्तमान पर्याय को स्वभाव में एकाग्र करके वर्तमान में स्वभाव को देखो तो नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और अकेला ज्ञायक आत्मा ही भूतार्थरूप से अनुभव में आता है। वहाँ यद्यपि संवर-निर्जरारूप परिणमन तो है परन्तु वह पर्याय अभेद अनुभव में समा गयी है।

भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि अखण्ड ज्ञायकवस्तु की दृष्टि से तो आत्मा में एकपना ही है और उसके आश्रय से एकपने की ही उत्पत्ति होती है। यद्यपि पर्याय में निर्मलता के प्रकार पड़ते हैं परन्तु वह पर्याय अभेद आत्मा में ही एकाग्र होती है; इसलिए अभेद आत्मा का ही अनुभव है।

अज्ञानी को जड़-चेतन की एकत्वबुद्धि से अनादि से नव

www.vitragvani.com

तत्त्व पर ही दृष्टि है। जड़ के संग से भिन्न अकेले चैतन्यतत्त्व का उसे पता नहीं है। अहो! मुझमें अनन्त गुण होने पर भी मैं अभेदस्वभावी एक वस्तु हूँ, ज्ञायकस्वरूप हूँ - ऐसा अनुभव करना, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन है। अभेद आत्मा के अनुभव में 'मैं ज्ञान हूँ' - ऐसे गुणभेद के विकल्पों को भी अवकाश नहीं है तो फिर नव तत्त्व के विकल्प होंगे ही कैसे? जो अभी नव तत्त्वों को भी नहीं मानता, उसे तो व्यवहारधर्म भी नहीं होता तथा पर-संयोग के समीप जाकर नव तत्त्वों को भूतार्थरूप से अनुभव करना; अर्थात्, एक जीव, तत्त्व को नव तत्त्वरूप अनुभव करना भी अभी सम्यग्दर्शन नहीं है।

सम्यग्दर्शन किस प्रकार है? - वह कहते हैं। अन्तर में चैतन्यस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और एक परमपारिणामिक ज्ञायक आत्मा ही भूतार्थरूप अनुभव में आता है - ऐसा अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। अभेदस्वभाव की प्रधानता से आत्मा का अनुभव करने पर, वह ज्ञायकमूर्ति भगवान तो एक ही है; एकपना छोड़कर वह नव प्रकाररूप नहीं हुआ है।

अहो! ऐसी सरस बात! पात्र होकर समझे तो निहाल हो जाए - ऐसी बात है। पहले सत्समागम में यह बात कान में पड़ने के पश्चात् अन्तर में विचार करके निर्णय करनेवाले को अनुभव होता है। जहाँ मुख्यता चैतन्यस्वरूप की हुई है, वहाँ अभेद चैतन्य ही दृष्टि में रहता है। नव भेद का विकल्प आता है, उसकी मुख्यता नहीं होती; इसलिए वह अभूतार्थ है। मैं अर्थात् जीव चैतन्य परिपूर्ण

www.vitragvani.com

हूँ, एकरूप हूँ, ऐसे स्वभाव की दृष्टि में एकता की ही मुख्यता है और उसमें नव तत्त्व की अनेकता गौण हो जाती है; इसलिए शुद्धनय में नव तत्त्व अभूतार्थ हैं।

आत्मा के अभेदस्वभाव की दृष्टि छोड़कर, पर्याय में परसङ्ग की अपेक्षा से देखने पर नव तत्त्व भूतार्थ हैं परन्तु जहाँ शुद्धनय से भेद का लक्ष्य छूटकर, अभेदस्वभाव की मुख्यता में ढलता है, वहाँ भेदरूप नव तत्त्वों का अनुभव नहीं है; इसलिए वे अभूतार्थ हैं और एक शुद्ध आत्मा ही भूतार्थरूप से प्रकाशमान है। ऐसे शुद्धात्मा का अनुभव होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, उस सम्यग्दर्शन के पश्चात् धर्मी को नव तत्त्व के विकल्प आते हैं परन्तु उनकी शुद्धदृष्टि में उन विकल्पों की मुख्यता नहीं है, एकाकार चैतन्य की ही मुख्यता है; इसलिए वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। 'अभूतार्थ' कहने से उन नव तत्त्वों के विकल्प, अभेदस्वभाव की दृष्टि में उत्पन्न ही नहीं होते – यह आशय है।

देखो तो सही, आत्मा की कैसी सरस बात है! यह कोई बाहर की बात नहीं है किन्तु अन्तर में अपने आत्मा की ही बात है। भाई! तुझे सुख और शान्ति चाहिए न? तो तू उसकी शोध कहाँ करेगा? कहीं बाहर में देव-शास्त्र-गुरु अथवा स्त्री, लक्ष्मी, शरीर इत्यादि में सुख-शान्ति शोधने से वह प्राप्त नहीं हो सकती। वीतरागी देव-गुरु तो कहते हैं कि हे भाई! तुझे सुख-शान्ति चाहिए हो, सम्यग्दर्शन चाहिए हो, सत्य चाहिए हो, साक्षात् आत्मसाक्षात्कार चाहिए हो तो नित्य चिदानन्दस्वभाव में ही उसे शोध! अन्तर स्वभाव में शोधने से ही वह प्राप्त होने योग्य है। सत्समागम से नव

www.vitragvani.com

तत्त्वों को जानकर, अन्तरङ्ग में भूतार्थ चैतन्यस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर सम्यग्दर्शन, सुख-शान्ति, सत्य और आत्मसाक्षात्कार होता है।

नव तत्त्व में पहला जीवतत्त्व कितना है? सिद्धभगवान के आत्मा जितना। जितना सिद्धभगवान का आत्मा है, उतना ही प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है। **'सिद्ध समान सदा पद मेरो'** अर्थात्, मेरा आत्मस्वरूप सदा ही सिद्ध समान है। ऐसा आत्मा, वह सम्यग्दर्शन का विषय है; अर्थात्, सम्यग्दर्शन अपने आत्मा को वैसा स्वीकार करता है।

सम्यग्दर्शन होने पर अपने सिद्धसमान आत्मा का संवेदन होता है, अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन का विषय अकेला आत्मा है, नव तत्त्व के भेद, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। नव तत्त्वों के विचार तो सम्यग्दर्शन के लिए वारदान है। वारदान से माल का अनुमान होता है कि इसे कैसा माल लेना है?

जिस प्रकार कोई फटा-टूटा काला थैला लेकर बाजार जा रहा हो तो अनुमान होता है कि यह मनुष्य कोई केसर लेने नहीं ला रहा, किन्तु कोयला लेने जा रहा होगा और कोई अच्छी काँच की बरनी लेकर बाजार में जाता हो तो अनुमान होता है कि यह मनुष्य कोयले लेने नहीं जा रहा, किन्तु केसर आदि उत्तम वस्तु लेने जा रहा है। इसी प्रकार जो जीव, कुदेव-कुगुरु का पोषण कर रहा है; अर्थात्, जिसे वारदान के रूप में ही काले थैले के समान कुदेव-कुगुरु हैं तो अनुमान होता है कि वह जीव, आत्मा का धर्म लेने के लिए नहीं निकला है परन्तु विषय-कषाय का पोषण करने के लिए

www.vitragvani.com

निकला है। जिसके पास नव तत्त्व की श्रद्धारूप वारदान नहीं है तो ऐसा समझना चाहिए कि वह जीव, आत्मा की श्रद्धारूपी केसर लेने के लिए नहीं निकला है परन्तु संसार भ्रमणरूप कोयला लेने निकला है।

जो जीव, शुद्ध आत्मा की श्रद्धारूपी माल लेने निकला हो, उसके पास सच्चे देव-गुरु के द्वारा कथित नव तत्त्वों की श्रद्धा ही वारदानरूप से होती है। पहले तत्त्वों का स्वीकार करने के पश्चात् उनके भेद का लक्ष्य छोड़कर, शुद्धनय के अवलम्बन से अभेद आत्मा का अनुभव करने से धर्म प्रगट होता है। जो कुतत्त्वों को मानता है और जिसे नव तत्त्वों का भान नहीं है, उसे तो चैतन्य का अनुभव होता ही नहीं।

जो जीव, शरीर की क्रिया से अथवा शुभविकल्पों से धर्म मनवाता है, वह फटा हुआ वारदान लेकर माल लेने निकला है। उसके फटे हुए थैले में सम्यग्दर्शनरूपी माल नहीं रहता है। अभी तो जीव और शरीर एकत्रित होकर बोलने इत्यादि का कार्य करते हैं, जो ऐसा मानता है कि उसने तो व्यवहार नव तत्त्वों को भी नहीं जाना है; उसे तो यथार्थ पुण्य की प्राप्ति भी नहीं होती तथा यदि नव तत्त्व के विचार में ही अटका रहे तो वह भी मात्र पुण्यबन्ध में अटक रहा है; उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होती। नव तत्त्व को मानने के पश्चात् अभेद एक चैतन्यस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करनेवाले को अपूर्व धर्म प्रगट होता है और उसके लिए मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

यहाँ तो जो नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा तक आया है, ऐसे

www.vitragvani.com

शिष्य को परमार्थ सम्यग्दर्शन कराने के लिए श्री आचार्यदेव कहते हैं कि तू चैतन्य जो वस्तुस्वभाव की अन्तर्दृष्टि कर! एकरूप चैतन्य की दृष्टि में नव तत्त्व के भङ्ग-भेद का विकल्प खड़ा नहीं होता, परन्तु एक शुद्ध चैतन्य आत्मा ही अनुभव में आता है - इसका नाम सम्यग्दर्शन है, इसी का नाम आत्मसाक्षात्कार है और यही धर्म की पहली भूमिका है।

अभेदस्वभाव की दृष्टि से देखने पर नव तत्त्व नहीं दिखते हैं परन्तु एक आत्मा ही शुद्धरूप से दिखाई देता है; इसलिए भूतार्थनय से देखने पर नव तत्त्वों में एक शुद्ध जीव ही प्रकाशमान है और वही सम्यग्दर्शन का ध्येय है। व्यवहारदृष्टि में नव तत्त्व हैं परन्तु स्वभावदृष्टि में नव तत्त्व नहीं हैं। स्वभावदृष्टि से ऐसा अनुभव करना ही धर्म है, मानव जीवन में यही मुमुक्षु का कर्तव्य है। ●

सु.....खी

अहो आत्मा आनन्दस्वभाव से भरपूर है ऐसे आत्मा के सन्मुख देखो तो दुःख है ही कहाँ? आत्मा के आश्रय से धर्मात्मा निशंक सुखी है कि भले ही देह का कुछ भी हो या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उलट-पुलट हो जाये तो भी मुझे उसका दुःख नहीं है। मेरी शान्ति-मेरा आनन्द मुझ आत्मा के ही आश्रय से है। मैं अपने आनन्दस्वरूप में डुबकी मारकर लीन हुआ, वहाँ मेरी शान्ति में विघ्न करनेवाला जगत में कोई नहीं है। इस प्रकार धर्मात्मा आत्मा के आश्रय से सुखी है। (सुख शक्ति के प्रवचन में से)

www.vitragvani.com

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य - (8)

ज्ञायकस्वभावी शुद्ध जीव का अनुभव

ही नव तत्त्व के ज्ञान का प्रयोजन, और वही सम्यग्दर्शन

जो जीव, निवृत्ति लेकर जिज्ञासुभाव से सत्-समागम में यथार्थ बात का श्रवण भी नहीं करता, वह जीव अन्तर धारणा करके तत्त्व का निर्णय कैसे करेगा और तत्त्वनिर्णय के बिना नि:सन्देह होकर आत्मवीर्य अन्तर-अनुभव में कैसे लगेगा? इसलिए मुमुक्षु को जिज्ञासुभाव से सत्-समागम में वैराग्य-परिणतिपूर्वक तत्त्वनिर्णय करके अनुभव का प्रयत्न करना चाहिए।

जीव, धर्म तो करना चाहते हैं परन्तु आत्मा को धर्म किस प्रकार हो? यह बात अनन्त काल से यथार्थरूप से समझ में नहीं आयी है। यदि एक सैकेण्ड भी आत्मा की समझ करे तो यह संसार-परिभ्रमण नहीं रह सकता है। परिभ्रमण के प्रबल कारणरूप आत्मभ्रान्ति है, उस आत्मभ्रान्ति के अभाव का वास्तविक उपाय क्या है? - यह जीव ने कभी नहीं जाना है। आत्मभ्रान्ति को मिथ्यात्व कहते हैं, उस मिथ्यात्व का अभाव कैसे हो; अर्थात्, सम्यग्दर्शन कैसे हो? इस बात को कभी नहीं जाना है। अरे! समकिती आत्मज्ञ सन्तों की उपासना भी सच्चे भाव से कभी नहीं की है। नव तत्त्वों को सम्यक् अन्तरभान से जानने पर, आत्मभ्रान्ति मिटकर सम्यग्दर्शन होता है और जीव को धर्म का प्रारम्भ होता है - ऐसा यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं।

जीव ने आत्मा की दरकार करके धर्म की यह विधि अनन्त

www.vitragvani.com

काल से नहीं जानी है; इसलिए कठिन लगती है, तो भी आत्मा के हित के लिए ध्यान रखकर समझना चाहिए,क्योंकि इसके अतिरिक्त आत्महित की दूसरी कोई विधि नहीं है। यदि रुचिपूर्वक समझना चाहे तो यह विधि, सहज है।

आत्मा में त्रिकालस्वभाव और वर्तमान अवस्था - ऐसे दो पहलू हैं। त्रिकालस्वभाव एकरूप है और अवस्था में अनेक प्रकार हैं। उसमें त्रिकाली एकरूप स्वभाव की दृष्टि छोड़कर बाह्य स्थूल दृष्टि से देखने पर नव तत्त्वों के विकल्प विद्यमान हैं। 'मैं जीव हूँ; शरीरादि अजीव हैं; दयादि के परिणाम, पुण्य हैं; हिंसादि के परिणाम, पाप हैं; पुण्य-पाप, दोनों आस्रव हैं; सम्यक्त्वादि के द्वारा उस आस्रव का रुकना संवर है; कर्म का खिरना, निर्जरा है; मिथ्यात्वादि भाव, बन्धन हैं और पूर्ण शुद्धता होने पर कर्मों का अत्यन्त नाश, वह मोक्ष है।' - ऐसे नव तत्त्वों का रागमिश्रित विचार से निर्णय करने पर, वे नव तत्त्व भूतार्थ हैं परन्तु एकरूप ज्ञायक आत्मा का अनुभव करने के लिए तो यह विकल्परूप नव तत्त्व छोड़ने योग्य हैं। अकेले नव तत्त्वों की रागमिश्रित श्रद्धा भी अभी सम्यक्त्व नहीं है।

प्रश्न - इन नव तत्त्वों में ज्ञेय, हेय और उपादेय कौन-कौन तत्त्व हैं?

उत्तर - जाननेयोग्य तो सभी हैं; अर्थात्, नव तत्त्व तो ज्ञेय हैं। यहाँ नव तत्त्व विकल्परूप लिये हैं; इसलिए वे नव तत्त्व हेय हैं। नव तत्त्व के विकल्परहित एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। जहाँ पर्याय अपेक्षा से कथन हो, वहाँ पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध को हेय

www.vitragvani.com

और संवर-निर्जरा; मोक्ष को उपादेय कहते हैं परन्तु द्रव्यदृष्टि में तो नव तत्त्व, हेय हैं। द्रव्यदृष्टि में नव तत्त्व के भेद नहीं हैं, अकेला शुद्ध आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा ही भूतार्थ है। उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं। नव तत्त्व, अभूतार्थ हैं, उनके आश्रय से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, किन्तु राग ही होता है; इसलिए यहाँ नव तत्त्वों को हेय कहा गया है। नव तत्त्वों का रागमिश्रित अनुभव, वह आत्मधर्म नहीं है; अन्तर्मुख स्वभाव में ढलने पर परिपूर्ण एक आत्मा ही प्रतीति में आवे और आत्मभङ्ग न हो, वही सम्यग्दर्शन धर्म है।

नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों मानें, 'मेरा स्वभाव सिद्ध समान है' - ऐसा माने तो विकल्प से जीवतत्त्व को माना कहा जाए; शरीर का काम, शरीर से होता है; आत्मा उसे नहीं करता - ऐसा माने तो रागमिश्रित विकल्प से अजीव को माना कहा जाए; पुण्यभाव क्षणिक विकार है, वह धर्म नहीं है; जीव का धर्म, जीव के आश्रय से होता है, अजीव की क्रिया से जीव को धर्म नहीं होता। इस प्रकार जीव -अजीव की भिन्नता जानकर, नव तत्त्वों को यथार्थ जानना भी अभी दर्शनशुद्धि होने के पूर्व की भूमिका है परन्तु यह नव तत्त्व के विकल्पमिश्रित विचार अभूतार्थ हैं। साधक को वह विकल्प आता है परन्तु उसे उसकी मुख्यता नहीं है। मुख्यता तो शुद्ध चैतन्य की ही है, उसके आधार से ही साधकदशा है।

अनन्त गुणों का पिण्ड जो आत्मा है, उसकी दृष्टि में नव तत्त्वों के विकल्पों का अभाव है। तात्पर्य यह है कि धर्मात्मा की दृष्टि में एकरूप चैतन्यतत्त्व की ही अस्ति है - ऐसी दृष्टि ही दर्शनविशुद्धि है और वही प्रथम धर्म है।

www.vitragvani.com

पहले तो बाह्य स्थूल दृष्टि से देखने पर नव तत्त्वों को भूतार्थ कहा और अन्तरस्वभाव के समीप जाकर शुद्ध जीव का अनुभव करने पर उन नव तत्त्वों को अभूतार्थ कहा है - ऐसा अनुभव करना, वह दर्शनविशुद्धि है।

अब, इसी बात को दूसरी शैली से कहते हैं।

'इसी प्रकार अन्तर्दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञायकभाव, जीव है और जीव के विकार का हेतु, अजीव है और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष जिनके लक्षण हैं - ऐसे केवल जीव के विकार हैं और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष - ये विकार के हेतु, केवल अजीव हैं। ऐसे यह नव तत्त्व, जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर, स्वयं और पर जिनके कारण हैं - ऐसे एक द्रव्य की पर्यायों के रूप में अनुभव करने पर भूतार्थ हैं और सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं - असत्यार्थ हैं; इसलिए इन तत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है।'

पहले, अज्ञानी के नव तत्त्व की बात थी, उसमें जीव और पुद्गल के संयोग से देखने का कथन था। यहाँ ज्ञानी के नव तत्त्व के विकल्प की बात है, उसमें जीव और अजीव, दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं तथा जीव और अजीव दोनों में अलग-अलग सात तत्त्व हैं - यह बात ली है। अन्तरस्वभाव की दृष्टि से देखें तो एक ज्ञायकभाव ही भूतार्थ है और नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। यह समझे बिना बाहर के सब भाव तो रण में पीठ दिखाने के समान है, उससे जीव को किञ्चित् धर्म नहीं होता। बाहर के भाव, जीव को किञ्चित्मात्र शरणरूप नहीं होते हैं।

www.vitragvani.com

अभेदरूप ज्ञायक आत्मा, वह अन्तरतत्त्व है, उसे अन्तर में नहीं देखकर, मात्र वर्तमान क्षणिकअवस्था का ही विचार करने को बहिर्दृष्टि कहते हैं। जैसे, सम्पूर्ण हीरे के अन्तर सत्व को देखना, वह अन्तर्दृष्टि है और उसके क्षणिक दाग को देखना, वह बहिर्दृष्टि है। इसी प्रकार आत्मा में त्रिकाली ज्ञायक अन्तरस्वभाव देखना, वह अन्तर्दृष्टि है और क्षणिक विकारी प्रगट पर्याय को ही लक्ष्य में लेकर, उसके विचार में रुकना, वह बहिर्दृष्टि है। उस बहिर्दृष्टि में भेदरूप नव तत्त्व भूतार्थ हैं परन्तु अन्तरस्वभाव की दृष्टि में वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और एक ज्ञायक भगवान आत्मा ही भूतार्थ है।

जीव और अजीव के सम्बन्ध से विचार करने पर नव तत्त्व के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह पर्याय में हैं अवश्य, परन्तु अभेद चैतन्यस्वभाव में ढलकर अनुभव करने पर वे सभी अभूतार्थ हैं। अकेले चैतन्य को लक्ष्य में लेकर अनुभव करने पर नव तत्त्व के विकल्प उत्पन्न नहीं होते – ऐसा अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन का मार्ग है परन्तु उससे पूर्व विकल्पदशा में नव तत्त्वों को भलीभाँति जानना चाहिए। उन्हें जानने में मुमुक्षु को विकल्प की मुख्यता नहीं, अपितु आत्मा का निर्णय करने के लक्ष्य की मुख्यता है।

अभी तो जो जीव, निवृत्ति लेकर जिज्ञासापूर्वक सत्समागम में यथार्थ बात का श्रवण भी नहीं करता, वह जीव, तत्त्व की धारणा करके अन्तर में निर्णय कैसे करेगा ? और तत्त्व का निर्णय किये बिना नि:सन्देह होकर, अन्तर में अनुभव किस प्रकार करेगा ?

www.vitragvani.com

– ऐसे अनुभव के बिना धर्म नहीं हो सकता और संसार परिभ्रमण का अभाव भी नहीं होता। इसलिए हे भाई! वैराग्यपरिणतिपूर्वक सत्समागम से तत्त्वनिर्णय करके, अन्तर में आत्मानुभव का उद्यम कर।

सम्यग्दर्शन के विषय में तो चैतन्य की एकता ही है, उसमें नव तत्त्व के भङ्ग-भेद नहीं हैं। पहले बाह्यदृष्टि से नव तत्त्व बतलाकर, अब अन्तर में ले गये हैं। अन्तर्दृष्टि से देखने पर आत्मा तो शुद्ध ज्ञायक चैतन्य है और उसकी अवस्था में जो क्षणिक जीव-अजीव आदि तत्त्व के विकल्प हैं, वह विकार है। ज्ञायक चैतन्यस्वभाव स्वयं उस विकार का हेतु नहीं है परन्तु उस विकार का हेतु अजीव है। पर्याय में ज्ञायकपना छूटकर जो विकार होता है, वह जीव का विकार है और उसका निमित्त, अजीव है। जीव में अपनी अवस्था की योग्यता से पुण्य-पाप इत्यादि सात तत्त्व होते हैं और उसमें निमित्तरूप अजीव है। उस अजीव की अवस्था में भी पुण्य-पाप इत्यादि सात प्रकार पड़ते हैं, वे दोनों; अर्थात्, जीव और अजीव की अवस्थाएँ भिन्न हैं। अकेले ज्ञायक में सात तत्त्व नहीं हैं; इसलिए उस स्वभाव के लक्ष्य से सात तत्त्व के विकल्प नहीं होते, परन्तु स्वभाव का लक्ष्य छोड़कर पर्याय के लक्ष्य से भेद के विकल्प होते हैं, उसका निमित्त अजीव है; जीवद्रव्य कहीं उसका निमित्त नहीं है।

देखो, उसमें आत्मा की पहचान करने के लिए कहा गया है, वही धर्म की रीति है। अपनी आत्मा में धर्म का प्रारम्भ कब होता है? जैसा आत्मस्वभाव सर्वज्ञ भगवान ने कहा है, वैसा अपना

www.vitragvani.com

आत्मस्वभाव पहचाने तो अपने में धर्म का प्रारम्भ होता है। यह प्रथम सम्यग्दर्शनधर्म की बात चलती है, आत्मा के स्वभाव को पहचानने की बात चलती है।

आत्मा की समझ करने में अन्तर की धर्म क्रिया आती है। जड़ की क्रिया मुझसे होती है और शरीर की क्रिया से धर्म होता है — ऐसा मानना तो अज्ञान की क्रिया है। उस क्रिया से संसारभ्रमण होता है। आत्मा में सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव प्रगट हो, वही आत्मा की धर्मक्रिया है और उसी से मोक्षदशा प्रगट होती है - ऐसी धर्मक्रिया की यह बात चल रही है।

आत्मा तो ज्ञायक चैतन्यज्योति है, आनन्दकन्द निर्विकारी मूर्ति है - ऐसा जो ज्ञायकभाव, वही जीव है, उसमें नव तत्त्व के भेद नहीं हैं परन्तु उसकी अवस्था में अजीव वस्तु के लक्ष्य से सात भङ्ग पड़ते हैं, उसका निमित्त अजीव है। आत्मा चैतन्यज्योति है, वह तो शुद्ध जीव है, जबकि उस ज्ञायक चैतन्यस्वभाव का अनुभव न रहे, तब उसकी अवस्था में अजीव के निमित्त से सात भङ्ग पड़ते हैं और निमित्तरूप अजीव में भी सात भङ्ग पड़ते हैं। यहाँ जीव और अजीव को अलग रखकर उन दोनों में सात-सात भङ्ग बतलाते हैं। एक ओर शुद्ध जीव अलग रखा, सामने अजीव सिद्ध किया; जीव को स्वभाव से ज्ञायक सिद्ध किया और अजीव को विकार के हेतुरूप में बतलाया। अकेले जीवस्वभाव के लक्ष्य से वीतरागभाव की उत्पत्ति होती है और सात तत्त्व के लक्ष्य से तो रागरूप विकल्प की उत्पत्ति होती है - यह बतलाया।

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि चूककर सात तत्त्व के भेद पड़ते हैं,

www.vitragvani.com

वे तो सब केवल जीव के ही विकार हैं। यहाँ मोक्षतत्त्व को भी जीव का विकार कहा है क्योंकि यहाँ सातों तत्त्व, विकल्परूप लिये हैं। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – ऐसे सातों तत्त्वों के विकल्प, शुद्ध जीव के लक्ष्य से उत्पन्न नहीं होते, अपितु निमित्त कर्म के लक्ष्य से उत्पन्न होते हैं; इसलिए उन सातों तत्त्वों को यहाँ विकार कहा है। उन सात तत्त्वों के लक्ष्य से एकरूप चैतन्य आत्मा दृष्टि में अथवा अनुभव में नहीं आता है और एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में और अनुभव में सात तत्त्व के भङ्ग भेद के विकल्प उत्पन्न नहीं होते।

यद्यपि संवर, निर्जरा और मोक्ष तो आत्मा की निर्मल पर्यायें हैं परन्तु यहाँ तो उन तत्त्व सम्बन्धी विकल्प को ही संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व गिनकर, उसे विकार कहा है। आत्मा में निर्मलपर्याय प्रगटी हो, उस पर्याय के लक्ष्य से भी राग की उत्पत्ति होती है और उस राग में अजीव निमित्त है। संवर, निर्जरा और मोक्ष, वह आत्मा की निर्मलपर्याय है परन्तु उन तीनों पर्यायों का भेद करके, उनका आश्रय करने से विकार की ही उत्पत्ति होती है। उनके भेद विकल्प में चैतन्य की शान्ति उत्पन्न नहीं होती; इसलिए उन तत्त्वों को भी विकार कहा है। इसलिए उनके भेद का आश्रय छोड़कर, भूतार्थरूप अभेद स्वभाव का आश्रय करना चाहिए – यह इस कथन का उद्देश्य है।

जिसे शुद्धद्रव्य के आश्रय से संवरदशा उत्पन्न हुई है, उसकी दृष्टि उस संवरपर्याय पर नहीं होती है, अपितु अन्तर के अभेदस्वभाव पर उसकी दृष्टि होती है। उस अभेदस्वभाव की दृष्टि से ही संवर,

www.vitragvani.com

निर्जरा प्रगट होते हैं; उस अभेद के आश्रय से ही संवर, निर्जरा टिकते हैं और उस अभेद के आश्रय से ही संवर, निर्जरा बढ़ते हैं। अभेदस्वभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है। संवर-निर्जरारूप पर्याय के लक्ष्य से संवर-निर्जरा प्रगट नहीं होते, नहीं टिकते और न ही वृद्धिगत होते हैं, अपितु उस पर्याय के लक्ष्य से तो राग की उत्पत्ति होती है; इसलिए एकरूप चैतन्यस्वभाव की दृष्टि और अनुभव के अतिरिक्त सात तत्त्व के विचार करना, वह विकार है। पुण्य-पाप इत्यादि सात तत्त्व, अकेले जीव की अवस्था में होते हैं और उसके हेतुभूत सात तत्त्व, अकेले अजीव की अवस्था में होते हैं। इस प्रकार जीव-अजीव का स्वतन्त्र परिणमन है।

जिसे ज्ञान में ऐसे जीवादि तत्त्वों का ख्याल न आवे, उसे निर्मल चैतन्यस्वभाव की दृष्टि नहीं होती। सात तत्त्वों में आत्मा की पर्याय और अजीव की पर्याय भिन्न-भिन्न है। अखण्डस्वभाव के अनुभव से सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् भी धर्मी को नव तत्त्व के विकार आते हैं परन्तु वे विकल्प एकत्वबुद्धिपूर्वक नहीं आते; इसलिए परमार्थ से तो वे ज्ञान के ज्ञेय हो जाते हैं। धर्मी को विकल्प का और ज्ञान का भिन्नपना वर्तता है।

अभी श्रेणिक राजा नरक में हैं और आगामी चौबीसी में पहले तीर्थङ्कर होनेवाले हैं। उन्हें अनेक रानियों और राजपाट का संयोग होने पर भी अन्तर में ऐसे ज्ञायक चैतन्यतत्त्व का भान था। अस्थिरता से राग-द्वेष होने पर भी, उस क्षण भी चैतन्य ज्ञायक में ही एकता की दृष्टि थी; इसलिए प्रति क्षण धर्म होता था।

भरत चक्रवर्ती को छह खण्ड के राज्य में भी ऐसा भान था।

www.vitragvani.com

तीर्थङ्कर भगवान माता के गर्भ में हों अथवा छोटे बालक हों, तब भी उन्हें चैतन्य का ऐसा ही भान होता है। सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र -इन्द्राणी; अर्थात्, शकेन्द्र और शची इन्द्राणी को भी ऐसा भान होता है, वे एकावतारी हैं। तीर्थङ्कर भगवान की सभा में सिंह-बाघ, सर्प इत्यादि अनेक तिर्यञ्च भी ऐसा आत्मभान प्राप्त कर लेते हैं। नरक में भी असंख्य जीवों को ऐसा भान होता है। आठ वर्ष का बालक भी ऐसा भान कर लेता है। यह सब भेद तो बाह्य शरीर के हैं, अन्दर आत्मा तो सबका एक समान चिदानन्दी भगवान है, उसका भान करके जो जागृत होता है, उसे ऐसा आत्मभान प्रगट हो जाता है।

इस चैतन्यमूर्ति आत्मस्वभाव को समझे बिना, शास्त्रों का पठन भी मात्र पुण्यबन्ध का कारण है। जिसे आत्मा का लक्ष्य नहीं है, वह कितने ही शास्त्र पढ़े, परन्तु उसे शास्त्र का वह समस्त पठन, मात्र मन के बोझरूप है; अन्तर में चैतन्य आनन्द की सुगन्ध उसे नहीं आती है, आत्मा की शान्ति का अनुभव उसे नहीं होता है। तिर्यञ्च आदि जीवों को शास्त्र का पठन न होने पर भी तीर्थङ्कर भगवान इत्यादि की वाणी सुनकर, अन्तर में यथार्थ भावभासन होने पर वे आत्मा के आनन्द का अनुभव प्रगट कर लेते हैं। वे तो आत्म अनुभवरहित ग्यारह अङ्ग के पाठी से भी उत्कृष्ट; अर्थात्, प्रशंसनीय है।

त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव ने प्रत्येक वस्तु को स्वतन्त्र देखकर नव तत्त्व का स्वरूप बतलाया है। उन नव तत्त्वों को पहचानकर नौ के भेद के विकल्परहित, अकेले ज्ञायकस्वभाव का अनुभव करना, वह धर्म है।

www.vitragvani.com

यहाँ जीव की पर्याय में जो सात तत्त्व के भेद पड़ते हैं, उसमें अजीव निमित्त है – ऐसी बात ली गयी है परन्तु अजीव में सात भेद पड़ते हैं, उसमें जीव निमित्त है, यह बात नहीं ली है, क्योंकि एक तो उसमें जीव की अधिकता बतलानी है और दूसरे, जीव को सात तत्त्व के भेद का लक्ष्य छुड़ाकर, स्वभाव की एकता करानी है। अजीव में कोई सात भेद छुड़ाकर एकता कराने का प्रयोजन नहीं है। जीव के द्रव्य-पर्याय दोनों की पहचान करके पर्यायभेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेदस्वभाव में ढलना ही प्रयोजन है। यहाँ स्वयं भेद का लक्ष्य छोड़कर, स्वभाव में एकाग्र होने पर अजीव निमित्त का लक्ष्य छूट जाता है और उस समय अजीव में स्वयमेव आस्रव बन्ध के निमित्तरूप परिणमन छूटकर, संवर, निर्जरा, मोक्ष के निमित्तरूप परिणमन होता है।

जिस प्रकार पानी के एक प्रवाह में बीच में सात खम्बेवाला पुल आने पर पानी में सात भङ्ग पड़ जाते हैं, उसमें वह पुल निमित्त है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा का ज्ञानप्रवाह अनादि अनन्त एकरूप है, उसकी क्षणिक अवस्था में अजीव के निमित्त से सात प्रकार पड़ते हैं। उन सात प्रकारों को लक्ष्य में लेकर अनुभव करने पर, एकरूप चैतन्य ज्ञायक आत्मा अनुभव में नहीं आता। अहा! यह तो अन्तर के अनुभव का अपूर्व विषय है!! बाह्य में बुद्धि का विशेष क्षयोपशम हो तो वह इसमें काम आवे – ऐसा नहीं है परन्तु चैतन्य की रुचि से ज्ञान को अन्तर में झुकाने का अभ्यास करना ही अन्तर के अनुभव का उपाय है।

अहो! मैं सम्पूर्ण ज्ञायक हूँ, ज्ञानशक्ति से परिपूर्ण भरा हूँ, बुद्धि

www.vitragvani.com

का विकास तो ज्ञान की अल्प अवस्था है। अरे! केवलज्ञान के समक्ष उसकी क्या गिनती? ऐसी तो अनन्त केवलज्ञान अवस्थाओं का पिण्ड मेरा एक ज्ञानगुण है और ऐसे अनन्त गुणों का पिण्डरूप सम्पूर्ण चैतन्य वस्तु वह मैं हूँ। इस प्रकार अपने अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेना ही धर्म का प्रारम्भ है।

वस्तु का स्वरूप समझे बिना लोग, बाह्य में उपवास इत्यादि में धर्म मान बैठे हैं परन्तु बाह्य में आहार न आना तो जड़ की क्रिया है, उस समय शुभभाव हों तो वह पुण्य है और धर्म तो उन दोनों से पार आत्मा की अन्तर्दृष्टि से होता है। शुभराग करने से धर्म नहीं हो जाता तथा आहार नहीं आया, इससे शुभभाव हुआ – ऐसा भी नहीं है तथा जीव के शुभराग के कारण आहार की क्रिया रुक गयी – ऐसा भी नहीं है। जीव का धर्म अलग वस्तु है, शुभराग अलग वस्तु है और बाहर की क्रिया अलग वस्तु है; इस प्रकार समस्त तत्त्वों को जानना चाहिए।

जिसे नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है, उसे अखण्ड -स्वभाव की दृष्टि नहीं होगी। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा विचार / विकल्प, वह भी परमार्थश्रद्धा नहीं है। यहाँ 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसे विकल्प को भी नव तत्त्व में से जीवतत्त्व में ले लिया है; इसलिए वह भी व्यवहारश्रद्धा में जाता है। शुद्ध जीवतत्त्व की श्रद्धा में 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसा विकल्प भी नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसी अनुभूति करे, वह तो आनन्दरूप है, उसमें कोई विकल्प नहीं है; इसलिए ऐसी अनुभूति तो जीव है परन्तु ऐसी अनुभूति न करे और मात्र उसके विचार में ही रूक जाए तो उसमें भेद का

www.vitragvani.com

विकल्प है; वह परमार्थ जीव नहीं है। पर्याय के लक्ष्य से एक जीवद्रव्य को पर्यायरूप अनुभव किये जाने पर जीव-अजीव, पुण्य-पाप इत्यादि नव तत्त्व भूतार्थ हैं परन्तु जब तक यहाँ तक के विचार में अटका है, वहाँ तक धर्म नहीं है। नव तत्त्व के भेद के विचार छोड़कर अकेले शुद्ध जीव को ही भूतार्थरूप अनुभव करने पर धर्म होता है और मोक्ष का द्वार खुलता है।

पहले, जीव-पुद्गल दोनों के बन्धपर्याय की बात की थी, अकेले जीवद्रव्य की अवस्थारूप से देखने पर नव तत्त्व भूतार्थ हैं - ऐसा कहकर अब अन्तरोन्मुख कराते हैं कि सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और ज्ञायक एक आत्मा ही भूतार्थ है, यही सम्यग्दर्शन है।

ज्ञायकद्रव्य ही त्रिकाली अस्खलित है, निर्मल अवस्था के समय अथवा विकारी अवस्था के समय भी आत्मा का ज्ञायक स्वभाव सदा एकरूप है और सात तत्त्व तो स्खलित हैं, क्षणिक हैं। नव तत्त्व के विकल्प क्षणिक हैं, उन नव तत्त्व के विकल्प छोड़कर एक अखण्डित ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करना, वह मोक्ष का मार्ग है। आत्मा के अखण्डस्वभाव के समीप जाकर; अर्थात्, स्वभावसन्मुख एकाग्र होकर अनुभव करते समय, नव तत्त्व लक्ष्य में नहीं आते; इसलिए वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। अस्थिरता के समय धर्मी को नव तत्त्व के विकल्प आते हैं तो भी उन पर धर्मी की दृष्टि नहीं होती। उसे उन विकल्पों की मुख्यता नहीं है, अपितु एक चैतन्य की ही मुख्यता है; इसलिए नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और

www.vitragvani.com

इसलिए उन नव तत्त्वों को छोड़कर, भूतार्थरूप भगवान आत्मा ही अकेला उपादेय है।

किसी को यह **शङ्का** होती है कि अरे! नव तत्त्वों को छोड़ने योग्य कहा है तो क्या जीवतत्त्व को छोड़ देना है?

उसका **समाधान** यह है कि अरे भाई! धैर्यवान होकर समझ! अभी क्या बात चलती है? - उसका आशय ग्रहण कर! यहाँ विकल्प छुड़ाकर निर्विकल्प अनुभव कराने के लिए नव तत्त्वों को हेय कहा है, क्योंकि नव तत्त्व के लक्ष्य से विकल्प हुए बिना नहीं रहता और आत्मा का निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। जीव के विकल्प को भी छुड़ाकर शुद्ध जीव का निर्विकल्प अनुभव कराने के लिए नव तत्त्वों में जीवतत्त्व को भी हेय कहा है। अभी यह बात सुनना भी कठिन पड़ती है तो वह समझकर अन्तर में अनुभव तो कब करेगा।

नाटक समयसार में कहा है कि —

बात सुनि चौंकि उठे वात ही सौं भौंकि उठे,
बात सौं नरम होइ, बात ही सौं अकरी।
निंदा करै साधु की, प्रशंसा करै हिंसक की,
साता मानैं प्रभुता, असाता मानैं फकरी॥
मोख न सुहाइ दोष, देखै तहाँ पैठि जाइ,
काल सौं डराइ जैसैं, नाहर सौं बकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूला, झूठ के झरोखे झूली,
फूली फिरै ममता, जंजीर निसौं जकरी॥ ३९॥

इसमें दुर्बुद्धि जीव की परिणति का वर्णन किया गया है।

www.vitragvani.com

उसमें कहते हैं कि अज्ञानी जीव, हित-अहित का विचार नहीं करता और सत्य बात सुनते ही चौंक उठता है। सत्य बात कान में पड़ते ही भड़ककर चिल्लाने लगता है, अपनी मनोनुकूल बात सुनते ही नरम हो जाता है और अपने को अरुचिकर बात हो तो चिड़ जाता है तथा वह जीव, मोक्षमार्गी साधुओं की निन्दा करता है और हिंसक अधर्मियों की प्रशंसा करता है। साता के उदय में अपने को महान मानता है और असाता के उदय में तुच्छ गिनता है। उसे मोक्ष तो रुचता नहीं है और कहीं दुर्गुण दिखाई दे तो उन्हें झट अङ्गीकार कर लेता है। उसे शरीर में अहंबुद्धि होने के कारण वह मोक्ष से तो ऐसा डरता है कि जैसे शेर से बकरी डरती है। इस प्रकार उसकी मूर्खता, अज्ञान से असत्य के मार्ग में चल रही है और ममता की साङ्कल से जकड़कर बुद्धि पानी भर रही है।

यहाँ कहते हैं कि भाई! सुन तो सही! यह क्या बात है? धर्म की सत्य बात कान में पड़ना भी दुर्लभ है। यदि धैर्यवान होकर अन्तर में समझे तो इस बात की महिमा का पता चल सकता है।

शुद्धपर्याय का लक्ष्य करके उसका आदर करने में भी विकल्प उत्पन्न होता है और राग होता है। त्रिकाली चैतन्यतत्त्व के आदर में वह पर्याय प्रगट हो जाती है। पर्याय के आश्रय में अटकने से निर्मलपर्याय नहीं होती, परन्तु शुद्धद्रव्य का आश्रय करने से वह पर्याय स्वयं निर्मल हो जाती है। निर्मलपर्याय वस्तु के आधार से होती है; इसलिए निर्मलपर्याय प्रगट करनेवाले की दृष्टि वस्तु पर होती है; पर्याय पर उसकी दृष्टि नहीं होती है। उस वस्तुदृष्टि में नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और एक अभेद आत्मा ही प्रकाशमान है।

www.vitragvani.com

देखो! नव तत्त्वों को अभूतार्थ कहकर यहाँ पर्यायदृष्टि को ही हेय कहा है और अखण्ड चैतन्यतत्त्व सर्व काल अस्खलित है, उसकी दृष्टि करायी है। संवर, निर्जरा अथवा मोक्ष, यह कोई तत्त्व सर्व काल में अस्खलित नहीं है; इसलिए ये सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। सर्व काल में अस्खलित तो एक चैतन्यद्रव्य ही है, वही सम्यग्दर्शन का ध्येय है; इसलिए भूतार्थनय से देखने पर नव तत्त्वों में एक जीव ही प्रकाशमान है, उसके अनुभव से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं। ऐसे भूतार्थरूप शुद्ध आत्मा को ही प्रतीति में लेना, इस गाथा का तात्पर्य है और यही प्रत्येक आत्मा का पहला कर्तव्य है। ●

हे जीव!....

हे जीव! आत्मपिपासु होकर निरन्तर अन्तर प्रयत्न द्वारा ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट कर।

www.vitragvani.com

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य – (9)

भगवान आत्मा की प्रसिद्धि

(सर्वज्ञ के निर्णय में सम्यक् पुरुषार्थ)

मई २०
में

आत्मस्वभाव के निर्णय में सर्वज्ञ का निर्णय, और सर्वज्ञ के निर्णय में आत्मस्वभाव का निर्णय – इसमें बीच में विकार कहीं नहीं आया – ऐसे निर्णय के जोर से निशंक होकर अन्तर अनुभव करने पर भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है। सम्यग्दर्शन होता है और मोक्ष का दरवाजा खुल जाता है।

धर्म करने के लिए जीव को आत्मा का स्वभाव समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक है, ज्ञान ही उसका स्वरूप है। अवस्था में जो कुछ विकारीभाव होते हैं, वे तो मात्र वर्तमान योग्यता से तथा कर्म के निमित्त से होते हैं। मूल वस्तुस्वरूप में वह विकार अथवा नव तत्त्व के भेद नहीं हैं। शुद्धनय द्वारा एकरूप ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से अनुभव करने पर ज्ञायकस्वभाव एक ही भूतार्थ है; नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। 'मैं ज्ञायक वस्तु हूँ' – ऐसा जहाँ अन्तर्दृष्टि से निश्चित किया, वहाँ भेद का विकल्प टूटकर, अभेदरूप आत्मा का अनुभव हुआ और वही सम्यग्दर्शनधर्म है।

जैसा वस्तु का मूलस्वभाव है, वैसा परिपूर्ण प्रतीति में ले तो धर्म होता है या उससे उलटा प्रतीति में ले तो धर्म होता है ? वस्तु के पूर्ण स्वभाव को प्रतीति में ले तो उसके आश्रय से धर्म होता है परन्तु यदि अपूर्णता अथवा विकार को ही सम्पूर्ण वस्तु मान ले तो

www.vitragvani.com

उसके आश्रय से धर्म नहीं होता। आत्मा के स्वभाव का निर्णय कहो या सर्वज्ञ का निर्णय कहो, दोनों एक ही है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव है, वही सर्वज्ञ को प्रगट हुआ है और सर्वज्ञ जैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है। दोनों में परमार्थ से कुछ भी अन्तर नहीं है; इसलिए आत्मा का पूर्ण स्वभाव पहचानने पर उसमें सर्वज्ञ की पहचान भी आ जाती है और सर्वज्ञ की वास्तविक पहचान करने में आत्मा के स्वभाव की पहचान भी आ जाती है।

सर्वज्ञ भगवान ने प्रथम तो अपने पूर्ण ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा की थी, और तत्पश्चात् आत्मा में एकाग्र होकर पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट की है। उस ज्ञान द्वारा वे भगवान एक समय में सब कुछ जानते हैं और जानना वह अपना स्वरूप होने से उस पूर्ण ज्ञान के साथ भगवान को पूर्ण स्वाभाविक आनन्द भी है और उन्हें रागादि दोष बिलकुल नहीं है। इस प्रकार जहाँ सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय किया, वहाँ अपने में भी अपने रागरहित ज्ञानस्वभाव का निर्णय हुआ।

परिपूर्ण ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, इसके अतिरिक्त रागमिश्रित विचार आते हैं, वह मेरा / चैतन्य का वास्तविक स्वरूप नहीं है। वस्तु का स्वभाव परिपूर्ण ही होता है। जैसे, जड़ में अचेतनपना है, उसमें अंशमात्र भी जानपना नहीं है। जड़ का अचेतन स्वभाव है; इसलिए उसमें परिपूर्ण अचेतनपना है और ज्ञान बिलकुल नहीं है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव, ज्ञान है तो उसमें ज्ञान परिपूर्ण है और अचेतनपना बिलकुल नहीं है। राग भी अचेतन के सम्बन्ध से होता है; इसलिए राग भी ज्ञानस्वभाव में नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय और अनुभव करना ही धर्म का प्रारम्भ है।

www.vitragvani.com

'ज्ञायकस्वभाव, वही जीव है' – ऐसा कहने से उसमें ज्ञान की पूर्णता ही आती है। पर्याय में अल्पज्ञता हो, वह उसका स्वभाव नहीं है। अभी अवस्था में अल्प ज्ञान है परन्तु अवस्था में सदा अल्प ज्ञान ही रहा करे – ऐसा स्वभाव नहीं है। एक समय में पूर्ण ज्ञानरूप परिणमित होना ही उसका स्वभाव है तथा अवस्था में अल्पज्ञता के साथ जो रागादिक भाव हैं, वे भी वास्तविक जीवस्वभाव नहीं हैं। राग और अल्पज्ञता से रहित, एकरूप ज्ञायकभाव ही परमार्थ जीव है। ऐसे पूर्ण ज्ञायकस्वभावी आत्मा का निर्णय करके, उसमें एकाग्र होने पर पर्याय में अल्पज्ञता अथवा राग-द्वेष नहीं रहते हैं परन्तु सर्वज्ञता और वीतरागता हो जाती है। पहले तो ऐसे पूर्ण आत्मा को श्रद्धा में स्वीकार करने की यह बात है। स्वभाव कहना और फिर उसमें अपूर्णता कहना, तब तो वह स्वभाव ही नहीं रहता। स्वभाव कभी अपूर्ण नहीं होता और जो अपूर्ण हो, उसे स्वभाव नहीं कहते हैं।

जिस प्रकार छोटी पीपल के स्वभाव में चौसठ पहरी पूर्ण चरपराहट शक्तिरूप से विद्यमान है, उसमें से वह प्रगट होती है। यह छोटी पीपल ही है और इसमें से चरपराहट प्रगट होगी; इस प्रकार उसकी शक्ति का विश्वास करके, उसे घिसकर वह चरपराहट प्रगट करने का विकल्प आता है, किन्तु कङ्कर को घिसने का विकल्प नहीं आता है क्योंकि कङ्कर में चरपराहट प्रगट होने का स्वभाव नहीं है – ऐसा जाना है। जिसमें जो स्वभाव होता है, उसमें से ही वह प्रगट होता है संयोग में से नहीं आता। इसी प्रकार आत्मा का वह स्वभाव, ज्ञायकस्वभाव है, उसमें सर्वज्ञता की सामर्थ्य है,

www.vitragvani.com

उस पूर्ण ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके उसमें एकाग्रतारूपी घिसावट / लीनता करने से पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है।

जहाँ ज्ञानस्वभाव भरा है, उसमें से ज्ञान प्रगट होता है; किसी संयोग में से ज्ञान नहीं आता। शरीरादि अचेतन हैं, उनमें से ज्ञान नहीं आता। मैं पर का कर्ता तो नहीं हूँ ही, नव तत्त्व के विकल्प का भी मैं कर्ता नहीं हूँ; मैं तो पूर्ण ज्ञायक हूँ। इस प्रकार अपने अन्तरस्वभाव का निर्णय करके, उसमें एकाग्र होना, वह धर्म है।

आत्मा के अन्तरस्वभाव की दृष्टि करने पर उसमें एक ज्ञायकमूर्ति जीव ही भूतार्थरूप से प्रकाशमान है, नव तत्त्वों के विकल्प उसमें नहीं हैं। भले ही साधक को नव तत्त्वों के विकल्प हों परन्तु उसकी दृष्टि तो अभेद स्वभाव में ही है। उस अभेदस्वभाव की ही मुख्यता में उसे ज्ञान की निर्मलता होती जाती है और राग -द्वेष का अभाव होता जाता है। विकल्प होने पर भी अभेदस्वभाव की दृष्टि में तो वे अभूतार्थ ही हैं। इस प्रकार शुद्धनय द्वारा एकरूप प्रकाशित शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। ऐसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति, वह आत्मप्रसिद्धि है और शुद्ध आत्मा की प्रसिद्धि, वह नियम से सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है, बाधारहित है।

कोई कहता है 'सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जाना होगा, तब आत्मा को धर्म होगा, अभी यह सब समझने से क्या काम है?' तो ऐसा कहनेवाले की दृष्टि विपरीत है; उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं है। ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे भाई! 'सर्वज्ञ भगवान ने सब देखा है और वैसा ही सब होता है' - इस प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान की

www.vitragvani.com

और वस्तु के स्वभाव की तू बात तो करता है परन्तु तुझे ज्ञान की महिमा तो आती नहीं है। हम पूछते हैं कि तू जो सर्वज्ञ की बात करता है, उस सर्वज्ञ का निर्णय तूने किस ज्ञान में किया है ? जिस ज्ञान में सर्वज्ञता का और वस्तु के स्वरूप का निर्णय करता है, वह ज्ञान, आत्मस्वभाव सन्मुख ढले बिना रहता ही नहीं और उसे वर्तमान में ही धर्म का प्रारम्भ हो जाता है तथा सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में भी ऐसा ही ज्ञात होता है।

जिसने आत्मा की पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य को प्रतीति में लेकर उसमें एकता की है, उसे ही वास्तव में सर्वज्ञ के ज्ञान की प्रतीति हुई है। जो राग को अपना स्वरूप मानकर, राग का कर्ता होता है और रागरहित ज्ञानस्वभाव की जिसे श्रद्धा नहीं है, उसे सर्वज्ञ की भी वास्तविक मान्यता नहीं है; इसलिए सर्वज्ञ के निर्णय में ही ज्ञानस्वभाव के निर्णय का सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है। वही मोक्षसन्मुख का पुरुषार्थ है और वही धर्म है। लोगों को बाहर की धूमधाम दिखे, उसमें पुरुषार्थ लगता है परन्तु अन्तर में ज्ञानस्वभाव के निर्णय में ही ज्ञाता-दृष्टापने का और राग के अकर्तापने का सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है, उसे बहिर्दृष्टि लोग नहीं जानते हैं। वस्तुत: ज्ञायकपना ही आत्मा का पुरुषार्थ है, ज्ञायकपने से अलग दूसरा कोई सम्यक् पुरुषार्थ नहीं है।

जीव, जाननेवाला है; आत्मा, ज्ञायकस्वभावी है – ऐसा सम्यक् निर्णय किया, वही आत्मा की अन्तरक्रिया है, वही धार्मिकक्रिया है परन्तु बाहर की देहदृष्टि से देखनेवाले को यह बात ख्याल में नहीं आती है। अवस्था का पलटना, वह क्रिया है। 'मैं ज्ञायकस्वभाव

www.vitragvani.com

हूँ' – इस प्रकार स्वभाव में दृष्टि करके पलटना, वह धर्म की क्रिया है और 'मैं विकारी हूँ' – ऐसी विकारी दृष्टि करके पलटना, वह अधर्म की क्रिया है; देह की क्रिया, वह जड़ की क्रिया है।

शुद्धनय द्वारा अन्तर्दृष्टि से देखने पर आत्मा एक ज्ञायकभावरूप प्रकाशमान भूतार्थ अनुभव में आता है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! तू अन्तर में तो देख! वहाँ छलाछल ज्ञानस्वभाव भरा है। जैसे, जहाँ सरोवर में पानी भरा हो, वहीं वह उछलता है; इसी प्रकार अन्तर के चैतन्य सरोवर में परिपूर्ण ज्ञान भरा है, उसमें डुबकी मार तो पर्याय में ज्ञान उछलेगा। कहीं पर के सामने देखने से अथवा भेद के विचार से तेरे गुण प्रगट नहीं होंगे; इसलिए उन्हें छोड़कर अन्तर के परिपूर्ण स्वभाव के सन्मुख दृष्टि कर और उसमें ही एकाग्र होकर अनुभव कर।

जो नव तत्त्वों को नहीं पहचानता, उसे तो अनुभव में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती और नव तत्त्व को ज्यों का त्यों जानकर, नव तत्त्व के विकल्प में ही रुकनेवाले को नव तत्त्व की ही प्रसिद्धि है परन्तु भगवान आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है; अर्थात्, सम्यग्दर्शन नहीं है। नव तत्त्व के भेद की दृष्टि छोड़कर, एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से अनुभव करने पर भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है। वह सम्यग्दर्शन है और वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है।

यहाँ 'आत्मा की प्रसिद्धि' होने की बात कहीं है, उसका आशय क्या है? त्रिकाली आत्मस्वभाव तो प्रसिद्ध ही था, वह कहीं ढका नहीं था परन्तु अवस्था में पहले उसका भान नहीं था और अब उसका भान होने पर अवस्था में भगवान आत्मा की

www.vitragvani.com

प्रसिद्धि हुई। निर्मल अवस्था प्रगट होने पर द्रव्य-पर्याय की अभेदता से 'आत्मा ही प्रसिद्ध हुआ' - ऐसा कहा है। अनुभव में कहीं द्रव्य- पर्याय का भेद नहीं है। रागमिश्रित विचार छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही एकाग्र हुआ, इसका नाम आत्मख्याति है। यहाँ उस आत्मख्याति को सम्यग्दर्शन कहा है। यद्यपि आत्मख्याति, स्वयं तो ज्ञान की पर्याय है परन्तु उसके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावीरूप से होता है; इसीलिए उस आत्मख्याति को ही यहाँ सम्यग्दर्शन कहा है।

इस प्रकार नव तत्त्वों में भूतार्थरूप से प्रकाशमान एक आत्मा को जानना ही नियम से सम्यग्दर्शन है - ऐसा सिद्ध करके श्री आचार्यदेव निशङ्कतापूर्वक कहते हैं कि यह सर्व कथन निर्दोष है। ऐसा ही वस्तु स्वरूप है और ऐसी ही सम्यग्दर्शन की विधि है; इसके अतिरिक्त दूसरी कोई विधि नहीं है। इसके अलावा दूसरा कुछ मानें तो, वह बाधासहित है। नव तत्त्व को भलीभाँति नहीं जाने तो वह मिथ्यात्वरूप दोषसहित है तथा नव तत्त्व के भेद के विकल्प में ही रूका रहे और एकरूप ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति नहीं करे तो वह भी मिथ्यात्वरूप दोषसहित है। नव तत्त्व को जानने के पश्चात् ज्ञायकस्वभाव की एकता में ज्ञान ढले, वही निर्दोष सम्यग्दर्शन है, वही निर्दोष उपाय है।

यहाँ तो आत्मार्थी जीव, नव तत्त्वों को जानकर अन्तर के अनुभव में झुकेगा ही - ऐसी ही बात है। नव तत्त्व में अटककर वापिस मुड़ जाएगा - ऐसी बात ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि यह तो अफरगामी मुमुक्षु की ही बात है।

www.vitragvani.com

नव तत्त्व को जाननेवाला कौन है ? नव तत्त्व को जाननेवाली तो ज्ञान की अवस्था है। कोई इन्द्रियाँ अथवा राग, नव तत्त्व को जानने का काम नहीं करते, परन्तु ज्ञान की अवस्था ही उन्हें जानने का काम करती है। अब, यदि ज्ञान की जो अवस्था है, उस अवस्था ने अन्तर्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव में एकता का काम नहीं किया और बहिर्मुख रहकर भेद के लक्ष्य से विकल्प में एकता करके अटक गयी तो उस ज्ञान अवस्था में आत्मा प्रसिद्ध नहीं हुआ; अर्थात्, धर्म नहीं हुआ, क्योंकि उस ज्ञानपर्याय ने स्वसन्मुख होकर स्वभाव का काम नहीं किया, किन्तु परलक्ष्य से राग में ही अटक कर संसारभाव की उत्पत्ति की है। इसलिए ज्ञान की अवस्था में नव तत्त्व के भेद का भी लक्ष्य छोड़कर, अभेद आत्मा की दृष्टि करके ज्ञायक का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन का उपाय है।

जिसे पहले नव तत्त्व के विचार से चैतन्य का अनुभव करना भी नहीं आता, वह विकल्प तोड़कर अन्तर में चैतन्य का साक्षात् अनुभव किस प्रकार कर सकेगा ? पहले नव तत्त्व के ज्ञान द्वारा चैतन्यस्वभाव को बुद्धि में पकड़कर, फिर उस स्वभाव के निर्णय का घोलन करते-करते विकल्प टूटकर, अन्तर में एकाग्रता होती है। ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख ढलकर अकेले ज्ञायक का रागरहित अनुभव करना ही धर्म की निर्दोष क्रिया है।

हे भाई ! नव तत्त्व के निर्णय में सर्वज्ञ का निर्णय भी समाहित हो जाता है। प्रथम, यदि तुझे सर्वज्ञ का निर्णय न हो तो अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय कर। अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय किया तो

www.vitragvani.com

उस ज्ञान में आत्मा के परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव का निर्णय आ जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने से अपने ज्ञातास्वभाव की प्रतीति हुई और पर्याय, ज्ञानशक्ति के सन्मुख होकर एकाग्र होने लगी, वही सच्चा पुरुषार्थ है। भले ही उस जीव को पर्याय में ज्ञान की अपूर्णता हो और राग भी होता हो, तथापि वह जीव, राग का कर्ता नहीं होता; वह तो राग का भी ज्ञायक रहता है और अल्पज्ञता जितना वह अपना स्वरूप नहीं मानता। पर्याय में अल्पज्ञता होने पर भी उसकी दृष्टि तो परिपूर्ण ज्ञानमूर्ति स्वभाव में ही है – ऐसा जीव, साधक है।

सर्वज्ञ को पूर्ण ज्ञान है और इस साधक सम्यग्दृष्टि को अपूर्ण ज्ञान है, इतना अन्तर है परन्तु यह साधक जीव भी ज्ञानस्वभाव की एकता की दृष्टि में राग का कर्ता नहीं, अपितु ज्ञायक ही है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके उसके अनुभव द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही प्रत्येक आत्मार्थी-मोक्षार्थी जीव का पहला कर्तव्य है।

इस प्रकार आचार्यदेव ने इस तेरहवीं गाथा में सम्यग्दर्शन का वर्णन किया है। सम्यक्त्व का मार्ग बतलाकर सन्तों ने महान उपकार किया है। सम्यक्त्वधारक सन्तों की जय हो। ●

www.vitragvani.com

भगवती प्रज्ञा

(भेदज्ञान की विधि और मोक्ष का उपाय दर्शानेवाला अद्भुत प्रवचन)

मोक्षार्थी को प्रथम तो यह बात अपने अन्तर में मजबूत करनी चाहिए कि मेरे मोक्ष का साधन मुझमें ही है, मेरे ज्ञान को जितना अन्तर्मुख एकाग्र करूँ, उतना मेरा मोक्ष का साधन है; इसके अतिरिक्त जितनी बहिर्मुखवृत्ति हो, वह मोक्ष का साधन नहीं है – ऐसे निर्णय के जोर से अन्तर्मुख परिणमन होता है परन्तु जो राग को ही मोक्ष का साधन मानता है, उसे राग से पृथक परिणमन नहीं होता, वह तो राग के साथ उपयोग को एकमेक करके बँधता ही है। जैसे आत्मा का मोक्षरूपी कार्य, आत्मा से पृथक् नहीं है; उसी प्रकार उसका साधन भी आत्मा से पृथक् नहीं है, वह साधन 'भगवती प्रज्ञा' ही है।

आत्मा को और राग को निकटता है परन्तु एकता नहीं; दोनों के लक्षण भिन्न हैं। भगवती प्रज्ञा को और आत्मा को तो एकता है। आत्मा और बन्ध दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षणों को जानकर, भगवती प्रज्ञा उन्हें छेद डालती है; उन दोनों को पृथक् करके प्रज्ञा, आत्मा के साथ तो एकता करके उसमें लीन होती है और बन्ध को अपने से पृथक् ही रखती है। ऐसा भेदज्ञान करनेवाली भगवती प्रज्ञा ही मोक्ष का साधन है, उस प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा को बन्धन से भिन्न किया जा सकता है।

अन्तर में भेदज्ञान का प्रयत्न करनेवाला जिज्ञासु शिष्य पुनः पूछता है कि प्रभो! आपने आत्मा और बन्ध को प्रज्ञाछैनी द्वारा पृथक् करने को कहा परन्तु ज्ञान को और बन्ध को चेतक-

www.vitragvani.com

चैत्यपने के कारण अत्यन्त निकटता है, (शिष्य निकटता कहता है परन्तु एकता नहीं कहता) — ऐसी निकटता है कि मानो दोनों साथ ही हों; जहाँ ज्ञान है, वहीं राग है। इस प्रकार निकटता है तो उन्हें प्रज्ञाछैनी द्वारा वास्तव में किस प्रकार छेदा जा सकता है, दोनों का पृथक् अनुभव किस प्रकार होता है ?

देखो! यह भेदज्ञान की वास्तविक धगशवाले शिष्य का प्रश्न! जिसे अन्तर में वास्तविक उत्कण्ठापूर्वक प्रश्न उत्पन्न हुआ है, उसे आचार्यदेव, भेदज्ञान की विधि समझाते हैं।

हे वत्स! आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अन्तरंग सन्धि में प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने से उन्हें छेदा जा सकता है। इस प्रकार बन्ध से पृथक् आत्मा का अनुभव किया जा सकता है - ऐसा हम जानते हैं।

देखो! आचार्यदेव, स्वानुभव से भेदज्ञान की विधि बतलाते हैं। आत्मा और बन्ध, अज्ञान से एक जैसे लगते हैं, परन्तु वास्तव में वे भिन्न ही हैं — ऐसा प्रज्ञा द्वारा हम जानते हैं। प्रज्ञाछैनी द्वारा उन्हें वास्तव में छेदा जा सकता है।

अन्तर में कुछ लक्ष्य बाँधकर शिष्य कहता है कि प्रभु! आप जो कहते हो, वह लक्ष्य में तो आता है परन्तु वास्तव में उन दोनों को छेदकर बन्ध से पृथक् आत्मा का साक्षात् अनुभव कैसे हो ? अन्तर में पृथकता का अभ्यास करते-करते नजदीक आया हुआ शिष्य, भेदज्ञान की आतुरता से प्रश्न पूछता है, अन्तर की धगश से प्रश्न पूछता है। ऐसी तैयारी होने से श्रीगुरु उसे जिस प्रकार समझाते हैं, उस प्रकार तुरन्त ही वह समझ जाता है; इसलिए उसे अन्तर में

www.vitragvani.com

सुन्दर आनन्दमय बोध तरङ्गें उछलती हैं। इस प्रकार सावधानरूप से पटकने में आयी हुई भगवती प्रज्ञाछैनी ही आत्मा के मोक्ष का साधन है।

प्र.... ज्ञा, अर्थात् विशेष ज्ञान, तीक्ष्ण ज्ञान, सूक्ष्म-उग्र-तीक्ष्ण ज्ञान; उसके द्वारा आत्मा और बन्ध दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण जानकर उन्हें पृथक् किया जा सकता है। उन दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण कैसे हैं? यह समझाते हैं :

प्रथम आत्मा का स्वलक्षण तो 'चैतन्य' है, और

बन्ध का स्वलक्षण तो रागादिक है।

चैतन्य जो कि आत्मा का स्वलक्षण है, वह बाकी के समस्त द्रव्यों से असाधारण है। वह चैतन्य, उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप से वर्तता हुआ जिन-जिन गुण-पर्यायों में व्यापकर वर्तता है, वह आत्मा है — ऐसे चैतन्य लक्षण से आत्मा को लक्षित करना। आत्मा चिन्मात्र है-ऐसे लक्ष्य में लेने से सहवर्ती अनन्त गुण और क्रमवर्ती अनन्त पर्यायें उसमें आ जाती है परन्तु राग उसमें नहीं आता। आत्मा से भिन्न ऐसे रागादिक तो बन्ध का स्वलक्षण है, वे रागादिभाव कहीं चैतन्य की तरह आत्मा के समस्त गुण-पर्यायों में व्याप्त नहीं होते; वे तो चैतन्य चमत्कार से सदा भिन्नरूप से ही भासित होते हैं। चैतन्यरहित आत्मलाभ कभी सम्भव नहीं है, परन्तु रागरहित आत्मलाभ तो सम्भवित है। चैतन्यरहित, चैतन्य से पृथक् आत्मा कभी प्राप्त नहीं हो सकता परन्तु रागरहित, राग से पृथक् आत्मा तो प्राप्त होता है - अनुभव में आता है।

अहो! चैतन्य और राग का कितना स्पष्ट पृथक्पना! भाई!

www.vitragvani.com

तुझे तेरा चैतन्य जीवन सफल करना हो-सच्चा सुखी जीवन जीना हो तो राग को तेरे चैतन्य घर में आने नहीं देना... तेरे चैतन्य को राग से पृथक् ही रखना।

ज्ञान में भिन्न ज्ञेयरूप से रागादि ज्ञात होते हैं, वह तो ज्ञान का चेतकपना प्रसिद्ध करते हैं। वे कहीं ज्ञान को रागरूप प्रसिद्ध नहीं करते और ज्ञान भी उस राग को रागरूप ही जानता है, उसे स्वपने (ज्ञानपने) नहीं जानता। ज्ञान ऐसा जानता है कि यह जो जाननेवाला है, वह मैं हूँ और यह रागरूप जो ज्ञात होता है, वह मैं नहीं; वह बन्धभाव है। उस बन्धभाव में चेतकपना नहीं है, मेरे चेतकपने में वह ज्ञेयरूप से ज्ञात होता है; इस प्रकार ज्ञेय-ज्ञायकपने का निकट सम्बन्ध होने पर भी, राग को और ज्ञान को एकता नहीं परन्तु भिन्नता है। स्पष्ट लक्षण के भेद से उन्हें पृथक जानते ही अपूर्व भेदज्ञान होकर ज्ञान, राग से भिन्न पड़ जाता है - ऐसा राग से पृथक् परिणमता ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।

जहाँ ज्ञान और राग दोनों भिन्न-भिन्न जाने, वहाँ उनकी एकता का भ्रम नहीं रहता, अर्थात् ज्ञान, राग में एकतारूप बन्धभाव से प्रवर्तित नहीं होता परन्तु राग से भिन्न मोक्षभाव से परिणमता है। इससे ऐसे पवित्र ज्ञान को आचार्यदेव ने 'भगवती प्रज्ञा' कहकर उसका बहुमान किया है, वही वास्तव में मोक्ष का साधन है।

मोक्ष के साधन की ऐसी मीमांसा कौन करे? कि जो जीव, मोक्षार्थी हो, जिसे संसार का रस उड़ गया हो, अर्थात् कषायें उपशान्त हो गयी हो और मात्र मोक्ष की ही अभिलाषा जिसके अन्तर में हो —

www.vitragvani.com

कषाय की उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष
भव में खेद अन्तरदया वह कहिये जिज्ञास

— ऐसा जिज्ञासु आत्मार्थी जीव, मोक्ष के साधन की मीमांसा करता है, अन्तर में गहरा विचार करके निर्णय करता है, भेदज्ञान करता है। अरे जीव! अन्तर में गहरा उतरकर एक बार खोज तो कर, तुझे तेरे मोक्ष का साधन तुझमें ही दिखेगा।

(समयसार) 294 वीं गाथा की टीका में आचार्यदेव ने भगवती प्रज्ञा को ही मोक्ष के साधनरूप से वर्णन करके, पश्चात् उस पर कलश भी अलौकिक चढ़ाया है; तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी किस प्रकार आत्मा और बन्ध को अत्यन्त पृथक् कर डालती है, उसके पुरुषार्थ का अद्भुत वर्णन 181वें कलश में किया है।

(स्नग्धरा)

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽतः संधिबंधे निपतति रभसात् आत्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमंतः स्थिर विशदलसत् धाम्नि चैतन्यपूरे
बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥१८१॥

इस कलश का भेदज्ञान प्रेरक प्रवचन आगामी लेख में पढ़ें।

www.vitragvani.com

आत्मा और बन्ध को पृथक् करके मोक्ष को साधनेवाली

भगवती प्रज्ञा

जिसके अन्तर में भेदज्ञान की चटपटी हुई है — ऐसे मोक्षार्थी शिष्य ने पूछा था कि हे प्रभु! प्रज्ञा ही मोक्ष का साधन है — ऐसा आपने समझाया तो उस प्रज्ञा द्वारा वास्तव में किस प्रकार आत्मा और बन्ध को पृथक् किया जा सकता है? उसके उत्तर में आचार्यदेव ने भेदज्ञान की अलौकिक बात (गाथा २९४ वें में) समझायी; आत्मा का लक्षण ज्ञान और बन्ध का लक्षण राग - इन दोनों को स्पष्टरूप से भिन्न बतलाया; इस प्रकार आत्मा और बन्ध दोनों को अत्यन्त पृथक् करनेवाली भगवती प्रज्ञा ही मोक्ष का साधन है। इस प्रकार भगवती प्रज्ञा को ही मोक्ष के साधन के रूप में वर्णन करके, अब आचार्यदेव उसके ऊपर अलौकिक कलश चढ़ाते हैं; इस १८१वें कलश में तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी किस प्रकार आत्मा और बन्ध को अत्यन्त पृथक् कर डालती है, उसके पुरुषार्थ का अद्भुत वर्णन किया है।

भेदज्ञान के वर्णन का यह श्लोक बहुत सरस है, इसमें भेदज्ञान की अलौकिक विधि बतायी है। प्रवीण पुरुष, अर्थात् विचक्षण बुद्धिवाले आत्मार्थी जीव, अत्यन्त सावधानी से प्रज्ञाछैनी द्वारा आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न कर डालते हैं। अपने सर्व प्रयत्न द्वारा अर्थात् सम्पूर्ण जगत की ओर से पराङ्मुख होकर चैतन्य के सन्मुख ढलने के उद्यम द्वारा अत्यन्त जागृतिपूर्वक आत्मा और बन्ध की सन्धि के बीच प्रज्ञाछैनी पटककर, मुमुक्षु जीव उन्हें पृथक् कर डालते हैं — दोनों को पृथक् करने के लिये दोनों का

www.vitragvani.com

आश्रय नहीं, आश्रय तो एक आत्मा का ही है; 'प्रज्ञा' जहाँ आत्मा की ओर ढलकर एकाग्र हुई, वहाँ बन्ध से वह पृथक् पड़ ही गयी। ज्ञानपरिणति और आत्मा की एकता हुई, उसमें राग नहीं आया, उसमें बन्धभाव नहीं आया; इस प्रकार बन्ध पृथक् ही रह गया और आत्मा, बन्धन से छूट गया। इस प्रकार भगवती प्रज्ञा, बन्ध को छेदकर आत्मा को मुक्ति प्राप्त कराती है।

धीमी शान्त हलकवाले इस श्लोक में आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! बन्ध से रहित ऐसे तेरे चिदानन्द आत्मा को अन्तर में अवलोकन करने के लिये तू धीर हो... धीर होकर, अर्थात् राग की आकुलता से जरा पृथक् पड़कर अन्तरोन्मुख हो! राग से पृथक् पड़कर जो अन्तर में ढला, उसने आत्मा और बन्ध के बीच प्रज्ञाछैनी को पटका। प्रवीण पुरुषों द्वारा सावधानी से पटकने में आयी हुई यह प्रज्ञाछैनी किस प्रकार पड़ती है? शीघ्र पड़ती है, तत्क्षण ही आत्मा और बन्ध का भेदज्ञान करती हुई पड़ती है; जैसा ज्ञान अन्तर में ढला कि तुरन्त ही बन्ध को छेदकर आत्मा से पृथक् पाड़ डालता है। देखो! यह बन्ध को छेदने की छैनी! यह प्रज्ञाछैनी ही मोक्ष का साधन है।

(१) एक तो (**प्रज्ञाछेत्री शितेयं**) प्रज्ञाछैनी तीक्ष्ण है।

(२) दूसरा (**कथमपि**) किसी भी प्रकार से, अर्थात् सर्व उद्यम को उसमें ही रोककर वह छैनी पटकी जाती है।

(३) तीसरा (**निपुणैः**) निपुण पुरुषों द्वारा, अर्थात् मोक्ष के उद्यमी मोक्षार्थी पुरुषों द्वारा वह पटकी जाती है।

(४) चौथा (**पातिता सावधानैः**) सावधान होकर, अर्थात्

www.vitragvani.com

मोह को दूर करके, आत्मस्वरूप के सन्मुख होकर वह प्रज्ञाछैनी पटकी जाती है। और

(५) पाँचवाँ (**निपतति रभसात्**) वह प्रज्ञाछैनी शीघ्ररूप से पड़ती है।

इस प्रकार पाँच विशेषणों से आचार्यदेव ने भेदज्ञान का अपूर्व पुरुषार्थ दर्शाया है। ऐसे पुरुषार्थ से पटकने में आयी हुई प्रज्ञाछैनी, आत्मा और बन्ध को सर्व ओर से अत्यन्त पृथक् कर डालती है; बन्ध के एक अंश को भी आत्मा में नहीं मिलाती, इस प्रकार बन्ध को सर्व प्रकार से छेदकर आत्मा को मोक्ष प्राप्त करानेवाली इस 'प्रज्ञा' को आचार्यदेव ने 'भगवती' कहकर उसकी महिमा की है।

पूर्व में तेईसवें कलश में कहा था कि रे भव्य! तू किसी भी प्रकार से — मरकर भी, तत्त्व का कौतुहली हो और देह से भिन्न आत्मा का अनुभव कर; इसी प्रकार यहाँ भी कहते हैं कि हे मोक्षार्थी! तू किसी भी प्रकार से सम्पूर्ण जगत की दरकार छोड़कर भी, इस भगवती प्रज्ञा को अन्तर में पटककर बन्ध को छेद डाल! 'किसी भी प्रकार से' — ऐसा कहकर, कर्म इत्यादि व्यवधान करेंगे, यह बात उड़ा दी है। कोई कहे - कर्म रोकेंगे तो? — तो आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! तू एक बार प्रज्ञाछैनी को हाथ में तो ले... प्रज्ञाछैनी हाथ में लेते ही (अर्थात् ज्ञान को अन्तर्मुख करते ही) कर्म तो कहीं बाहर रह जायेंगे और छिद जायेंगे। यहाँ तो कहते हैं कि 'कर्म रोकेंगे...' ऐसा याद करे, वह वास्तविक मोक्षार्थी नहीं है। वास्तविक मोक्षार्थी तो उद्यमपूर्वक

www.vitragvani.com

प्रज्ञाछैनी द्वारा भेदज्ञान करके आत्मा और बन्ध को अत्यन्त पृथक् कर डालता है।

अहा! आत्मा को बन्धन से मुक्त करना, वही मेरा कर्तव्य है। शुद्ध आत्मा को प्राप्त करना, वही मेरा एक कर्तव्य है — ऐसी जिसे तीव्र धगश जागृत हुई हो और सन्तों से भेदज्ञान का ऐसा उपदेश मिले, वह जीव भेदज्ञान का पुरुषार्थ किये बिना कैसे रहे? और ऐसा मोक्षार्थी जीव, बन्ध के एक कण को भी अपने स्वरूप में कैसे रखे? रखेगा ही नहीं; और भेदज्ञान के कार्य में वह प्रमाद भी कैसे करे? करेगा ही नहीं। जिस प्रकार बिजली की चमक में सुई पिरोनी हो, वहाँ प्रमाद कैसे चलेगा? उसी प्रकार अनन्त काल के संसार भ्रमण में बिजली की चमक जैसा यह मनुष्य अवतार, उसमें चैतन्यमय भेदज्ञानरूपी डोरा पिराने के लिये आत्मा की बहुत जागृति चाहिए। भाई! अनन्त काल में इस चैतन्य भगवान को पहचानने का और मोक्ष को साधने का अवसर आया है। लाखों का क्षण-क्षण जा रहा है, आत्मभान बिना उद्धार का कोई अवसर नहीं है; इसलिए सर्व उद्यम से तेरे आत्मा को भेदज्ञान में जोड़... शूरवीरता से प्रज्ञाछैनी द्वारा तेरे आत्मा के बन्धभाव को छेद डाल। प्रज्ञाछैनी उस बन्ध को छेदने का अमोघ शस्त्र है, प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने पर, अर्थात् जगत की अनुकूलता में अटके बिना और जगत की प्रतिकूलता से डरे बिना, ज्ञान को अन्तर में स्वसन्मुख ढालने से बन्धन बाहर रह जाता है, अर्थात् आत्मा, बन्धन से छूट जाता है। इस प्रकार बन्धन को छेदकर मोक्ष प्राप्त करने का साधन भगवती प्रज्ञा ही है।

(श्री समयसार कलश, १८१ के प्रवचन में से)

www.vitragvani.com

जैसे माता वात्सल्य से बालक को समझाती है, उसी प्रकार

आचार्यदेव शिष्य को समझाते हैं

जिस प्रकार माता, बालक को शिक्षा दे तब किसी समय ऐसा कहती है — बेटा! तू तो बहुत चतुर... तुझे यह शोभा देता है! और कभी ऐसा भी कहती है तू मूर्ख है... पागल है! — इस प्रकार कभी मृदुता युक्त शब्दों से शिक्षा दे तो कभी कड़क शब्दों से उलहाना दे परन्तु दोनों समय माता के हृदय में पुत्र के हित का ही अभिप्राय है; इसलिए उसकी शिक्षा में कोमलता ही भरी हुई है; उसी प्रकार धर्मात्मा सन्त, बालक जैसे अबुध शिष्यों को समझाने के लिये उपदेश में कभी मृदुता से ऐसा कहते हैं कि हे भाई! तेरा आत्मा सिद्ध जैसा है, उसे तू जान! और कभी कड़क शब्दों में कहते हैं कि अरे मूर्ख! पुरुषार्थहीन नामर्द! तेरे आत्मा को अब तो पहचान, यह मूढ़ता तुझे कब तक रखनी है? अब तो छोड़! - इस प्रकार कभी मृदु सम्बोधन से और कभी कड़क सम्बोधन से उपदेश दें परन्तु दोनों प्रकार के उपदेश के समय उनके हृदय में शिष्य के हित का ही अभिप्राय है। इसलिए उनके उपदेश में कोमलता ही है.... वात्सल्य ही है।

यहाँ समयसार कलश २३ में भी आचार्यदेव, कोमलता से सम्बोधन करके शिष्य को उपदेश देते हैं।

अयि! कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

www.vitragvani.com

रे भाई! तू किसी भी प्रकार से तत्त्व का कौतुहली हो। हित की शिक्षा देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! कुछ भी करके तू तत्त्व का जिज्ञासु हो... और देह से भिन्न आत्मा का अनुभव कर। देह के साथ तुझे एकता नहीं है किन्तु भिन्नता है... तेरे चैतन्य का विलास देह से भिन्न है; इसलिए तेरे उपयोग को पर की ओर से छोड़कर अन्तर में झुका।

पर में तेरा नास्तित्व है, इसलिए तेरे उपयोग को पर-तरफ से वापस हटा। तेरे उपयोगस्वरूप आत्मा में पर की प्रतिकूलता नहीं है। मरण जितना कष्ट (बाह्य प्रतिकूलता) आवे तो भी उसकी दृष्टि छोड़कर अन्तर में जीवन्त चैतन्यस्वरूप की दृष्टि कर। **मृत्वा अपि,** अर्थात् मरकर भी तू आत्मा का अनुभव कर – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने शिष्य को पुरुषार्थ की प्रेरणा दी है। बीच में कोई प्रतिकूलता आवे तो तेरे प्रयत्न को छोड़ मत देना परन्तु मरण जितनी प्रतिकूलता सहन करके भी तू आत्मा को नजर में लेना... उसका अनुभव करना। मुझे मेरे आत्मा में ही जाना है... उसमें बीच में पर की दखलगीरी कैसी? प्रतिकूलता कैसी? बाहर की प्रतिकूलता का आत्मा में अभाव है-ऐसे उपयोग को पलटाकर आत्मा में झुका – ऐसा करने से पर के साथ एकत्वबुद्धिरूप मोह छूट जायेगा... और तुझे पर से भिन्न तेरा चैतन्य तत्त्व आनन्द के विलाससहित अनुभव में आयेगा।

३८ गाथा तक पर से भिन्न शुद्ध जीव का स्वरूप बहुत-बहुत प्रकार से स्पष्ट करके समझाने पर भी जो नहीं समझता और देहादि को आत्मा मानता है, उसे आचार्यदेव कड़क सम्बोधन करके

www.vitragvani.com

समझायेंगे कि हमने इतना-इतना समझाया, तथापि जो जीव, देह को -कर्म को तथा राग को ही आत्मा का स्वरूप मानता है, वह जीव मूढ़ है, अज्ञानी है, पुरुषार्थहीन है। पर को ही आत्मा मान-मानकर वह आत्मा के पुरुषार्थ को हार बैठा है। रे पशु जैसे मूढ़! तू समझ रे समझ! भेदज्ञान करके तेरे आत्मा को पर से भिन्न जान... राग से पृथक् चैतन्य का स्वाद ले।

इस प्रकार जैसे माता, बालक को शिक्षा देती है, उसी प्रकार आचार्यदेव, शिष्य को अनेक प्रकार से समझाते हैं। इसमें उसके हित का ही आशय है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! जड़ की क्रिया में तेरा धर्म ढूँढ़ना छोड़ दे! इस चैतन्य में तेरा धर्म है, वह कभी जड़ नहीं हुआ। जड़ और चैतन्य दोनों द्रव्यों के भाग करके मैं तुझे कहता हूँ कि यह चेतनद्रव्य ही तेरा है; इसलिए अब जड़ से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यतत्त्व को जानकर तू सर्व प्रकार से प्रसन्न हो... तेरा चित्त उज्ज्वल करके सावधान हो... और 'यह स्वद्रव्य ही मेरा है' - ऐसा तू अनुभव कर। आहा...! ऐसा चैतन्यतत्त्व हमने तुझे दिखाया... अब तू आनन्द में आ... प्रसन्न हो!

जैसे दो लड़के किसी वस्तु के लिये झगड़ें तो माता बीच में पड़कर भाग कर डालती है और समाधान कराती है; उसी प्रकार यहाँ आचार्यदेव, जड़-चेतन के भाग करके, बालक जैसे अज्ञानी को समझाते हैं कि ले, यह तेरा भाग! देख... यह चेतन्य है, वह तेरा भाग है और यह जड़ है, वह जड़ का भाग है; तेरा चैतन्य भाग ऐसा का ऐसा सम्पूर्ण शुद्ध है, उसमें कुछ बिगड़ा नहीं है; इसलिए तेरा

www.vitragvani.com

यह चैतन्य भाग लेकर अब तू प्रसन्न हो... आनन्दित हो... तेरे मन का समाधान करके तेरे चैतन्य को आनन्द से भोग... उसके अतीन्द्रिय सुख के स्वाद का अनुभव कर।

अज्ञानी का अज्ञान कैसे मिटे और उसे चैतन्य के सुख का अनुभव कैसे हो? – इसके लिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं। कड़क सम्बोधन करके नहीं कहते परन्तु कोमल सम्बोधन करके कहते हैं कि हे वत्स! क्या इस जड़ देह के साथ एकमेकपना तुझे शोभा देता है? नहीं, नहीं; तू तो चैतन्य है... इसलिए जड़ से पृथक् हो... उसका पड़ोसी होकर, उससे भिन्न तेरे चैतन्य को देख। दुनिया की दरकार छोड़कर तेरे चैतन्य को देख! यदि तू दुनिया की अनुकूलता या प्रतिकूलता देखने में रुकेगा तो तेरे चैतन्य भगवान को तू नहीं देख सकेगा। इसलिए दुनिया का लक्ष्य छोड़कर, उससे अकेला पड़कर, अन्तर में तेरे चैतन्य को देख... अन्तर्मुख होते ही तुझे पता पड़ेगा कि चैतन्य का कैसा अद्भुत विलास है!

हे बन्धु! तू चौरासी के अवताररूपी कुएँ में पड़ा है; उसमें से बाहर निकलने के लिये जगत के चाहे जितने परीषह या उपसर्ग आवें, मरण जितने कष्ट आवें, तथापि उनकी दरकार छोड़कर तेरे चैतन्य दल को देख। देह या शुभाशुभभाव मेरे स्वघर की चीज नहीं है परन्तु वे तो मेरे पड़ोसी हैं। वे मेरे समीप में रहनेवाले हैं परन्तु मेरे साथ एकमेक होकर रहनेवाले नहीं हैं; इस प्रकार एक बार उनका पड़ोसी होकर पृथक् आत्मा का अनुभव कर, दो घड़ी तो तू ऐसा करके देख! दो घड़ी में ही तुझे तेरे चैतन्य का अपूर्व विलास दिखायी देगा।

www.vitragvani.com

यह बात सरल है क्योंकि तेरे स्वभाव की है और तुझसे हो सके ऐसी है तथा ऐसा करने में ही तेरा हित है... इसलिए सर्व प्रकार के उद्यम से तू ऐसे चैतन्य का अनुभव कर – ऐसा सन्तों का उपदेश है। ●

सन्तों के प्रताप से....

बन्धन में सुख नहीं; मोक्ष में सुख है। बन्धन से छुटकारे का अवसर आने पर हर्ष से बछड़े जैसा प्राणी भी उत्साह से उछल-कूद करता है। आह! छूटने के अवसर पर, डोर का बच्चा भी हर्ष से नाचता है। तो अरे जीव! अनादि काल के बन्धन से बँधा हुआ तू; सन्त तुझे उस बन्धन में से छूटने का उपाय बतावें और उस बन्धन से छूटने की बात सुनकर तेरा आत्मा हर्ष से उल्लसित न हो – यह कैसे बने? वाह! सन्तों के प्रताप से मुझे छुटकारे का अवसर आया। इस प्रकार मुमुक्षु का आत्मा, मोक्ष के उपाय के प्रति आनन्द से उल्लसित हो जाता है।

www.vitragvani.com

आमन्त्रण

अपने अन्तर में अपूर्व अतीन्द्रिय शान्तरस का अनुभव करके, सन्त-धर्मात्मा आमन्त्रण देते हैं... किसे आमन्त्रण देते हैं ? सम्पूर्ण जगत को आमन्त्रण देते हैं... किसका आमन्त्रण देते हैं ? शान्तरस का स्वाद लेने का। अपने अन्दर में शान्तरस का समुद्र उल्लसित हो रहा है, उसके अनुभवपूर्वक धर्मात्मा-सन्त, जगत के समस्त जीवों को आमन्त्रण देते हैं कि हे जगत के जीवो! आओ... आओ... यहाँ भगवान ज्ञानसमुद्र में शान्तरस उछल रहा है... उसमें मग्न होकर उसका अनुभव करो। दूध-पाक-जामुन इत्यादि का रस तो जड़ है, उसके अनुभव में तो अशान्ति है और वह तो अनन्त बार भोगी जा चुकी झूठन है। आहा...हा...! ....इसलिए ऐसे जड़ के स्वाद की रुचि छोड़ो... और इस चैतन्य के शान्तरस को आस्वादो। यह शान्तरस का समुद्र इतना अधिक उल्लसित हुआ है कि सम्पूर्ण लोक को अपने में डुबो ले... इसलिए जगत के समस्त जीव एकसाथ आकर इस शान्तरस में निमग्न होओ... समस्त जीव आओ... कोई बाकी रहो नहीं — इस प्रकार सम्पूर्ण जगत को आमन्त्रण देकर वास्तव में तो धर्मात्मा स्वयं की शान्तरस में लीन होने की भावना को ही मथता है।

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवान अवबोधसिंधुः ॥३२॥

www.vitragvani.com

आचार्य भगवान ने मोक्षमार्ग खुल्ला करके समझाया... शान्तरस का समुद्र दिखलाया... वह समझकर चैतन्य के शान्तरस के समुद्र में निमग्न हुआ शिष्य, अपना प्रमोद प्रसिद्ध करते हुए कहता है कि अहो! इस ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा, विभ्रमरूप आड़ी चादर को समूलतया दूर करके स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; इसलिए अब समस्त लोक उसके शान्तरस में एक साथ ही मग्न होओ। यह शान्तरस सम्पूर्ण लोकपर्यन्त उछल रहा है।

देखो, यह आमन्त्रण! शान्तरस में निमग्न होने का आमन्त्रण कौन नहीं स्वीकारेगा? चैतन्य के असंख्य प्रदेश में शान्तरस का समुद्र उल्लसित हो रहा है, वह आचार्य भगवान ने दिखलाया... उसमें कौन डुबकी नहीं मारेगा! यहाँ तो कहते हैं कि पूरा जगत आकर इस शान्तरस में डुबकी लगाओ।

आहा...हा...! ऐसा भगवान आत्मा का शान्तरस! ऐसे भगवान आत्मा का अद्भुत स्वभाव देखकर धर्मात्मा का भाव उछल गया है। अहो! आत्मा का ऐसा शान्तरस समस्त जीव प्राप्त करो। सभी जीव आओ! ज्वाजल्यमान अंगारे जैसे विकार में से बाहर निकलकर इस शान्तरस में मग्न होओ... अत्यन्त मग्न होओ... जरा भी बाकी रखना नहीं। यह शान्तरस थोड़ा नहीं परन्तु सम्पूर्ण लोक में उछल रहा है... शान्तरस का अपार समुद्र भरा है, उसमें लीन होने के लिए ढिंढ़ोरा पीटकर सम्पूर्ण जगत को आमन्त्रण है।

अपने भाव में जो रुचा है, उसका दूसरों को भी आमन्त्रण देते हैं। कितने ही श्रावक, साधर्मियों को जिमाते हैं, उसमें कितनों के ही ऐसे भाव होते हैं कि कोई भी साधर्मी रह जाना नहीं चाहिए...

www.vitragvani.com

क्योंकि इतने सबमें से कोई जीव ऐसा प्रिय हो कि भविष्य का तीर्थङ्कर होनेवाला हो, कोई केवली होनेवाला हो, कोई अल्प काल में मुक्त होनेवाला हो, तो ऐसे धर्मात्मा के पेट में मेरा ग्रास जाये तो मेरा धन्य अवतार! कौन भविष्य में तीर्थङ्कर होनेवाला है, कौन अल्प काल में मुक्ति जानेवाला है, इसका भले पता न हो परन्तु जिमानेवाले का भाव ऐसा होता है कि अल्प काल में मुक्ति जानेवाला कोई धर्मात्मा रह जाना नहीं चाहिए - इसका अर्थ ऐसा है कि जिमानेवाले को धर्म का और मुक्ति का प्रेम है; जिमानेवाले के भाव यदि आत्मभावनापूर्वक यथार्थ हों तो स्वयं को अल्प काल में मुक्ति लेने का भाव है; इसलिए दूसरे धर्मात्माओं के प्रति भाव उछल जाते हैं।

यहाँ, जिसने चैतन्य के शान्तरस का स्वाद चखा है — ऐसे सन्त धर्मात्मा सम्पूर्ण जगत को सामूहिक आमन्त्रण देते हैं — यह शान्तरस का स्वाद चखे बिना कोई जीव नहीं रह जाना चाहिए; सम्पूर्ण जगत एकसाथ आकर इस शान्तरस का आस्वादन करो... इसमें निमग्न होओ - इसमें वस्तुत: तो स्वयं को ही भगवान आत्मा के शान्तरस में डूब जाने की तीव्र भावना प्रस्फुटित हुई है। अहो! समयसार की एक-एक गाथा में आचार्यदेव ने अद्भुत रचना की है, अलौकिक भाव भरे हैं; क्या कहें? जिसे समझ में आये, उसे पता पड़ता है।

देहरूप गोद में प्रभु चैतन्य बालभाव से सो रहा है। प्रवचन माता चैतन्य की लोरियाँ गाकर उसे जगाती हैं। लौकिक माता तो बालक को सुलाने के लिये लोरियाँ गाती हैं और यह प्रवचनमाता

www.vitragvani.com

तो शरीर और राग को अपना स्वरूप मानकर सोये हुए बाल जीवों को जगाने के लिये लोरियाँ गाती हैं — अरे जीव! तू जाग। जड़ से और राग से पृथक् पड़कर तेरे चैतन्य के शान्तरस का पान कर... शान्तरस में निमग्न हो।

जैसे बीन के मधुर नाद से सर्प, जहर को भूल जाता है और बीन के नाद में एकाग्र होकर डोल उठता है; उसी प्रकार इस समयसार की वाणीरूप आचार्यदेव की मधुर बीन के नाद से कौन-सा आत्मा नहीं डोलेगा? चैतन्य के शान्तरस के रणकार सुनकर किस जीव का जहर (मिथ्यात्व) नहीं उतर जायेगा? और कौन नहीं जागेगा? सब जागेंगे, सब डोलेंगे। आहा! आत्मा की अद्भुत बात सुनते हुए असंख्य प्रदेश में झनझनाहट से आत्मार्थी जीव डोल उठता है और चैतन्य के शान्तरस में मग्न होता है।

देखो! यह चैतन्य राजा को प्रसन्न करने की भेंट! ऐसी अन्तर परिणतिरूपी भेंट दिये बिना आत्मराजा किसी प्रकार रीझे, ऐसा नहीं है। परिणति को अन्तर में एकाग्र करने से चैतन्य के असंख्य प्रदेश में शान्तरस का समुद्र उल्लसित होता है, उस शान्तरस में निमग्न होने के लिये सम्पूर्ण जगत के जीवों को आमन्त्रण है। सब आओ... सब आओ! मुझे ऐसा शान्तरस प्रगट हुआ और जगत का कोई जीव रह नहीं जाना चाहिए। ●

(समयसार कलश ३२ के प्रवचन में से)

www.vitragvani.com

छह माह का कोर्स

आत्मप्राप्ति के अभ्यास का कोर्स कितना? अधिक से अधिक छह महीने! जिस प्रकार मेट्रिक के अभ्यास का कोर्स दस-ग्यारह वर्ष का होता है; बी.ए. के अभ्यास का कोर्स तीन वर्ष का होता है; इसी प्रकार यहाँ धर्म के अभ्यास में बी.ए. का अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्मा के अनुभव का कोर्स कितना? आचार्यदेव कहते हैं कि अधिक से अधिक छह महीने तक अभ्यास करने से तुझे ब्रह्मस्वरूप आत्मा का अनुभव अवश्य होगा... परन्तु अभ्यास के लिए एक शर्त! क्या शर्त?... कि दूसरा सब कोलाहल छोड़कर अभ्यास करना... किस प्रकार अभ्यास करना? यह बात सिखलाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि —

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥ 34॥

देखो, जिसे आत्मा का अनुभव करने की लगन लगी है — ऐसे शिष्य को सम्बोधित करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! **विरम**.... जगत् के अन्य सब व्यर्थ के कोलाहल से तू विरक्त हो, अन्य व्यर्थ के कोलाहल से तुझे कुछ लाभ नहीं है; इसलिए उससे तू विरक्त हो जा... बाह्य कोलाहल को एक ओर रखकर अन्दर में चैतन्य को देखने का अभ्यास कर। समस्त परभावों के कोलाहल से रहित - ऐसे चैतन्यस्वरूप को देखने के

www.vitragvani.com

लिए निवृत्त हो... निवृत्त होकर, अर्थात् शान्त होकर, निश्चल होकर, एकाग्र होकर, विश्वासी होकर, स्थिर होकर, गुप्त रीति से चुपचाप विनीत होकर, दृढ़ होकर, अन्तर में चैतन्य को देखने का छह महीने तक इसी प्रकार अभ्यास कर...। एक बार छह महीने तक ऐसा अभ्यास करके, तू विश्वास करके देख कि ऐसा करने से तेरे हृदय सरोवर में पुद्गल से भिन्न चैतन्य प्रकाश की प्राप्ति होती है या नहीं ? छह महीने में तो अवश्य प्राप्ति होगी।

हे भाई! अपनी बुद्धि से देह और रागादिक को अपना मानकर, उनका तो तूने अनन्त काल से अभ्यास किया है, तथापि चैतन्यविद्या प्राप्त नहीं हुई और तेरा आत्मा अनुभव में नहीं आया तथा तू अज्ञानी ही रहा... इसलिए अब अपनी इस मिथ्याबुद्धि को छोड़कर, जिस प्रकार हम कहते हैं, उस प्रकार अभ्यास कर। ऐसे अभ्यास से छह महीने में तो तुझे अवश्य चैतन्यविद्या प्राप्त होगी... छह महीने तक लगनपूर्वक अभ्यास करने से तुझे अवश्य आत्मा का अनुभव होगा। भाई! छह महीना तो हम अधिक से अधिक कहते हैं। यदि तू उत्कृष्ट आत्मलगनपूर्वक प्रयत्न करेगा, तब तो दो घड़ी में ही तुझे आत्मा का अनुभव हो जाएगा।

अहा! देखो तो सही, यह चैतन्य के अनुभव का मार्ग! कितना सरल और सहज! चैतन्य का अनुभव, सहज और सरल होने पर भी, दुनिया के व्यर्थ के कोलाहल में जीव रुक गया होने से उसे वह दुर्लभ हो गया है; इसलिए आचार्यदेव विशिष्ट शर्त रखते हैं कि दुनिया का व्यर्थ कोलाहल छोड़कर, चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर...। एक चैतन्यतत्त्व के अतिरिक्त सब भूल जा... इस

www.vitragvani.com

प्रकार मात्र चैतन्य का ही अभिलाषी होकर, अन्तर में उसके अनुभव का अभ्यास कर तो उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होगी ? अवश्य होगी। 'कितने समय में ?' मात्र दो घड़ी में ! कदाचित् तुझे कठिन लगे और देरी लगे तो भी अधिक में अधिक छह महीने में तो अवश्य आत्मा की प्राप्ति होगी। इस प्रकार आत्मप्राप्ति के अभ्यास का अधिक में अधिक कोर्स छह महीने का है।

यहाँ अधिक में अधिक छह महीना कहकर, कहीं काल की गिनती पर वजन नहीं देना है परन्तु शिष्य को आत्मलगन के भाव कैसे उग्र हैं ? – यह बताना है। जो शिष्य सम्पूर्ण जगत् की दरकार छोड़कर आत्मा का अनुभव करने के लिए तैयार हुआ है, वह शिष्य, काल के माप के समक्ष नहीं देखता... 'कि कितना काल हुआ !' वह तो अन्तर में चैतन्य के पकड़ने के अभ्यास में गहरे से गहरा उतरता जाता है, प्रतिक्षण चैतन्यस्वभाव के समीप ही समीप होता जाता है – ऐसा का ऐसा धारावाही अभ्यास ठेठ आत्मा का अनुभव होने तक वह चालू ही रखता है। ऐसे अनुभव के अभ्यास में उसे अपने ही अन्तर में प्रतिभासित होता है कि मेरे चिदानन्दस्वभाव की शान्ति अब निकट ही है, सुख के समुद्र को स्पर्श कर हवा आ रही है तो अब सुख का समुद्र एकदम पास ही है; इसलिए आचार्यदेव ने कहा है कि हे भाई ! छह महीने तक ऐसा अभ्यास करने से तुझे अपने ही हृदय में चैतन्य का विलास दिखलायी देगा। इसलिए अभी तक की अभ्यास की हुई तेरी उलटे-सीधे दलीलों / कुतर्कों को एक ओर रख दे और इस प्रकार अन्तर में चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर।

www.vitragvani.com

देखो, यह चैतन्यविद्या का अभ्यास! यह चैतन्यविद्या तो भारत की मूल विद्या है। पूर्व काल में तो बाल्यवय से ही भारत में बालकों में ऐसी चैतन्यविद्या के संस्कार डाले जाते थे... माताएँ भी धर्मात्मा थीं, वे अपने बालकों को ऐसे उत्तम संस्कार सिखलाती थीं और बालक भी अन्तर में अभ्यास करके, अन्तर में उतरकर, आठ-आठ वर्ष की उम्र में आत्मा का अनुभव करते थे। भारत में चैतन्यविद्या का ऐसा अद्भुत धर्मकाल था... उसके बदले आज तो इस चैतन्यविद्या का श्रवण प्राप्त होना भी कितना दुर्लभ हो गया है! परन्तु जिसे हित करना हो और शान्ति अपेक्षित हो, उसे यह चैतन्यविद्या सीखना ही होगी... इसके अतिरिक्त जगत् की दूसरी किसी विद्या के द्वारा आत्मा का हित अथवा शान्ति का अंश भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए हे जीवों! 'यह बात हमें समझ में नहीं आती... हमें कठिन लगती है... हमें अभी समय नहीं है' -इस प्रकार व्यर्थ का बकवास करना बन्द करो... और इस चैतन्य के अभ्यास में ही अपनी आत्मा को जोड़ो। छह महीने तक एक धारा से अभ्यास करने से तुम्हें अवश्य आत्मभान और आत्मशान्ति होगी।

बाहर की दूसरी विद्या - मैट्रिक अथवा एम.ए. इत्यादि पढ़ने के लिए कितने वर्ष गँवाता है ? पैसा कमाने के लिए विदेश में भी कितने वर्ष गँवाता है... तो यह चैतन्यविद्या जो कि अपूर्व है, उसके लिए एक बार छह महीने तो निकाल। छह महीने तो अन्तर में चैतन्यविद्या का अभ्यास कर! मन नहीं, राग नहीं, पर की अपेक्षा नहीं - इस प्रकार पर के अवलम्बनरहित स्वाश्रित चैतन्य के अनुभव के लिए निश्चलरूप से छह महीने तो अन्दर में प्रयत्न

www.vitragvani.com

कर! दूसरी सब बातों से निवृत्त होकर, समस्त परभावों से मैं पृथक् हूँ – ऐसा लक्ष्य में लेकर, अन्तर में उतरकर चैतन्यसरोवर में एक बार तो डुबकी मार! स्वरूप के अभ्यास से आत्मप्राप्ति सुलभ है; अधिक से अधिक छह महीने में वह अवश्य प्राप्त होता है। ●

जिसे धुन लगी....

यह निरालम्बी ज्ञान जगत में किसी से घिरता नहीं है, राग का भी घेरा ज्ञान को नहीं है, ज्ञान तो रोग से या राग से-सबसे अद्धर का अद्धर ही रहता है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा सबसे महान् बड़ा पदार्थ है। जगत में इसकी तुलना नहीं है, इसका अनुभव करने की जिसे धुन लगी, वह सतत् अपने परिणाम को स्व-सन्मुख झुकाया करता है।

अनुभव जीवन, वही सन्तों का वास्तविक जीवन है।

www.vitragvani.com

ज्ञान को उर आनो

धन समाज गज बाज राज तो काज न आवे,
ज्ञान आपको रूप भये फिर अचल रहावे;
तास ज्ञान को कारन स्व-पर विवेक वखानो,
कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनो।
जे पूरब शिव गये, जाहिं, अब आगे जे हैं,
सो सब महिमा ज्ञान तनी मुनिनाथ कहे हैं;

(पण्डित श्री दौलतरामजी)

सम्यग्ज्ञान की महिमा करके उसे धारण करने की प्रेरणा प्रदान करते हुए छहढाला में कवि कहते हैं कि धन, समाज, हाथी, घोड़ा, वैभव या राज — यह कहीं जीव को काम नहीं आते; सम्यग्ज्ञान ज्योति निजस्वरूप है, वह प्रगट होने पर अचलरूप से जीव के साथ रहता है। स्व पर का भेदज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान का कारण है; हे भव्य! करोड़ों उपाय द्वारा भी ऐसे सम्यग्ज्ञान को अन्तर में प्रगट करो। पूर्व में जो मोक्ष प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में पा रहे हैं और भविष्य में प्राप्त करेंगे। वह सब सम्यग्ज्ञान की ही महिमा है - ऐसा मुनिवरों ने कहा है।

www.vitragvani.com

दर्शन धारो पवित्रा

तीन लोक तिहुँकाल मांही नहीं दर्शन सो सुखकारी,
सकल धरम को मूल यही, इस विन करनी दु:खकारी।
मोक्षमहल की परथम सीढी, या विन ज्ञान-चरित्रा,
सम्यक्ता न लहे, सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवे,
यह नरभव फिर मिलन कठिन है जो सम्यक् नहि होवे।

(पण्डित श्री दौलतरामजी)

सम्यक्त्व की महिमा करके उसे धारण करने की प्रेरणा प्रदान करते हुए कवि कहते हैं कि तीन लोक और तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान सुखकारी दूसरा कोई नहीं है; समस्त धर्मों का मूल यही है; इसके बिना समस्त करनी दु:खरूप है। यह सम्यग्दर्शन, मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है; इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्ता प्राप्त नहीं करते। इसलिए हे भव्यो! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो। हे सुज्ञ! दौलतरामजी यह शिक्षा सुनकर तू चेत... और समय व्यर्थ न गँवा; यदि इस अवसर में सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया तो पुन: ऐसा नरभव प्राप्त होना कठिन है।

www.vitragvani.com

सम्यक्त्व

निष्कम्प मेरुवत अरु निर्मल ग्रही सम्यक्त्व को,
श्रावक! ध्याओ ध्यान में उसे ही दुःख क्षय हेतु को ॥८६॥

सम्यक्त्व को जो ध्यावता वह जीव सम्यक्दृष्टि है,
दुष्टाष्ट कर्मों क्षय करे सम्यक्त्व के परिणमन से ॥८७॥

सम्यक्त्व सिद्धि कर अहो स्वप्न में दुषित नहीं,
वह धन्य है सुकृतार्थ है, शूर, वीर, पण्डित वही॥

(भगवान कुन्दकुन्दाचार्य)

तीन काल अरु तीन लोक में समकित सम नहीं श्रेय है
मिथ्यात्व सम अश्रेय को नहीं जगत में इस जीव को॥

(श्री समन्तभद्राचार्य)

क्या कोई तुझे शरणभूत होंगे ?

अभी तो छोटी-छोटी उम्र में देह छोड़कर चले जाते हैं, बचाने के लिए दश-दश हजार रुपया खर्च करे; परन्तु पैसा क्या कर सकता है ?

बड़े करोड़पति हों और विदेश से डॉक्टर बुलावें, परन्तु जहाँ मरण का काल आया हो, वहाँ वे क्या बचा सकते हैं ? समूहरूप से एकत्रित सगे-सम्बन्धी भले ही तेरा दीर्घायुपना चाहें और तू भी भले ही दीनता से उनकी ओर टुकुर-टुकुर देखता रहे तो भी क्या कोई तुझे बचा सकेंगे ? क्या कोई तुझे शरणभूत होंगे ?